पंचम अध्याय

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता : तुलनात्मक अध्ययन

स्वतन्त्रतापूर्व जिन जीवन-मूल्यों और सिद्धांतों को समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त था, स्वातंत्र्योत्तर भारत में धीरे-धीरे वे खंडित होते चले गए। विशेषतः परंपरागत जीवन-मूल्य स्वातंत्र्योत्तर और भी विघटित होते चले गए। आधुनिकता और यांत्रिक जीवन के पीछे भारत के लोगों ने अंधी दौड़ लगानी शुरू कर दी। आज समाज में बहुत से लोग भ्रामक स्थिति में हैं कि परंपरा से जुड़कर रहना उसका अनुशीलन करना गैर-आधुनिक होना है। जबकि इसके विपरीत एक स्वस्थ परंपरा ही आगे आधुनिकता का रूप ग्रहण करती है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि परंपरा को आधुनिकता से अलग नहीं देखा जा सकता है। अम्बादत्त पाण्डेय इस सन्दर्भ में लिखते हैं, "परंपरा आधुनिकता से विछिन्न कभी नहीं हो सकती। हर देश का उसके इतिहास के आधार पर एक जातीय विकास होता है। जीवन मूल्य परंपरा परिवर्द्धित-परिवर्तित होते रहते हैं। संस्कृति के सूक्ष्म तत्व उभरकर प्रबल रूप धारण करते हैं अर्थात् संकीर्णता का स्थूल वातावरण विदीर्ण होकर स्थानापन्न होता है, सार्वभौमिकता एवं उदार मानवीय गुणों से, पर मूल में जातीय छाप लगी रहती है।"[1]

हिंदी साहित्य और साहित्यकार ने भी हमेशा से ही अपनी रचनाओं में जहाँ अपनी परंपरा को स्थान दिया है वहीं अपने युग परिवेश का चित्रण-अंकन बखूबी किया है। किन्तु साहित्य की कोई भी विधा क्यों न हो उसका मूल्यांकन दो स्तरों पर किया जा सकता है। प्रथम स्तर यह है कि हमें यह देखना होगा कि उसमें कलात्मकता कितनी है। दूसरा यह कि उस विधा की रचनाओं से अर्थबोध क्या हो रहा है ? मूलतः इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी विधा की रचना का उद्देश्य किसी बात को अपने ढंग से कह गुजरने का ही होता है, किन्तु किसी भी रचना का दीर्घजीवी होना उसकी कलात्मकता

के साथ-साथ इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने समकालीन और भविष्य के समाज को कितनी दूर तक अपने साहित्य के कैनवास पर सफलतापूर्वक चित्रित करता है। यह विशेषता ही किसी साहित्यिक रचना को अपने समय में प्रासंगिक बनाती है।

हिंदी नाटकों के सन्दर्भ में हम देखें तो 1950 और 1960 के दशक में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य रचनाओं में जो नई प्रवृत्ति देखने को मिली वह है इतिहास-पुराण से चरित्र और परवेश चयन की प्रवृत्ति। इस दशक के नाटककारों का इतिहास-पुराण से चरित्र और परवेश चयन का मुख्यतः उद्देश्य आधुनिक जीवन संघर्ष को उद्घाटित करना था। जगदीशचंद्र माथुर का 'कोणार्क', लक्ष्मीनारायण लाल का 'मादा कैक्टस', धर्मवीर भारती का 'अंधा-युग' आदि ऐसे आधुनिक प्रारंभिक हिंदी नाटक थे, जो हिंदी नाट्य जगत की पूरी नाट्य चेतना को एक नया आयाम देते हैं और समसामयिक संदर्भो में मानवीय अन्तर्द्वंद्व और उनके जटिल चरित्रों का एक नवीन रंग चेतना के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

इसी कड़ी में प्रमुख रूप से जिस अगले नाटककार का नाम आता है वह मोहन राकेश और उनके नाटकों का है। मोहन राकेश की नाट्य-यात्रा उनके प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' से प्रारंभ होती है और तीसरे नाटक 'आधे-अधूरे' पर जाकर समाप्त हो जाती है। चौथे नाटक 'पैर तले की जमीन' की रचना पूर्ण होने से पूर्व ही असमय उनकी ज़िंदगी पर पूर्ण-विराम लग गया। किन्तु राकेश के यह तीन नाटक क्रमशः 'आषाढ़ का एक दिन', लहरों के राजहंस', और 'आधे-अधूरे' में आज के आधुनिक मानवीय अंतर्मन के द्वंद्व को और आज के मानव के जटिल जीवन को इतनी बारीकी से उकेरा गया है कि कई बार ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अंतर्मन का द्वंद्व खुद के अन्दर का हो या जो नाट्य-चरित्र और परिस्थितियाँ चित्रित की गई हैं वह हमारे आस-पास की ही हों।

मोहन राकेश के नाटकों में जो भावनात्मकता, आंतरिक जटिलता, रूमानियत और संवेदनात्मक वातावरण देखने को मिलता है, वही 70 के दशक के नाटककार सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में भी देखने

को मिलता है। दोनों ही नाटककारों के नाटकों में मिथकीय ऐतिहासिक कथानक और पौराणिक चरित्रों की पृष्ठभूमि में आधुनिक मानव के व्यक्तित्व एवं सामाजिक जीवन की जटिलताओं और द्वंद्वों को देखा जा सकता है, "सुरेन्द्र वर्मा, के नाटकों में इतिहास तथा पौराणिक सन्दर्भ उसी रूप में आये हैं जिस रूप में मोहन राकेश के नाटकों- 'आषाढ़ का एक दिन' एवं 'लहरों के राजहंस' में। इस रूप में हिंदी नाट्य-परंपरा में सुरेन्द्र वर्मा मोहन राकेश की अगली कड़ी कहे जा सकते हैं।"[2] आधुनिक काल के इन दोनों नाटककारों के नाटकों का समग्र तुलनात्मक अध्ययन करके ही इनके नाटकों में निहित परंपरा और आधुनिकता संबंधी तत्त्वों को समझा जा सकता है।

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा दोनों के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कथानक की बात करें तो आधुनिक जीवन-बोध के लिए मिथकीय पौराणिक कथा का प्रयोग किया है। जिसमें मोहन राकेश का पहला और दूसरा 'आषाढ़ का एक दिन'(1958 ई.) और 'लहरों के राजहंस'(1963 ई.) नाटक मिथकीय पौराणिक कथा पर आधारित हैं। जबकि सुरेन्द्र वर्मा के मिथकीय पौराणिक कथाओं पर आधारित जो नाटक हैं वे हैं-'सेतुबंध'(1972 ई.),'नायक खलनायक विदूषक'(1972 ई.),'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'(1975 ई.), 'आठवां सर्ग'(1976 ई.), 'छोटे सैयद बड़े सैयद'(1982 ई.), 'कैद-ए-हयात'(1993 ई.),'रति का कंगन'(2010 ई.)। जबकि 'द्रौपदी' (1972 ई.), 'एक दूनी एक' (1987 ई.), और 'शकुन्तला की अंगूठी' (1990 ई.) सुरेन्द्र वर्मा के ऐसे नाटक हैं जिनकी कथावस्तु और पात्र-चरित्र आधुनिककालीन हैं। इस दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा के तीन नाटकों को छोड़कर शेष नाटक मिथकीय पौराणिक कथा पर आधारित हैं। जिसका भाव-बोध आधुनिककालीन समाज और व्यक्ति के द्वंद्व, कुंठा और जीवन के भटकाव आदि को ही चित्रित करते हैं।

अतः इस अध्याय में तुलनात्मक शोध-प्रविधि के माध्यम से उन नाटकों के मध्य तुलना की गयी है जिन नाटकों के नाट्य कथानक, देशकाल और वातावरण तथा पात्रों की परिस्थितियों में कमोबेश समानता है। साथ ही नाट्य उद्देश्य कई अर्थो में एक समान हैं। दोनों ही नाटककारों के कई नाटकों

के पात्रों, परिवेश और विषयगत समस्याओं में समतुल्यता है जिसके कारण इन नाटकों को या इसके पात्रों को सापेक्ष रूप से देखना अनिवार्य था। इस कारणवश पंचम अध्याय की में मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के कई नाटकों में बारम्बार तुलना की गयी है जिससे कि परम्परा और आधुनिकता से संबंधित समस्त आयामों का विवेचन-विश्लेष्ण सुनिश्चित किया जा सके।

5.1 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आठवां सर्ग'

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा दोनों ही नाटककारों के नाट्यलेखों में ऐतिहासिक पौराणिक परिवेश-चयन की वृत्ति देखी जा सकती है। जिसमें दोनों ही नाटककारों के यहाँ जो एक बात सामान्य है वह है कालिदास। वह कालिदास जो संस्कृत साहित्य में महाकवि के रूप में स्थापित हैं। जिनका व्यक्तित्व भारतीय लोकजनों के बीच सदियों से प्रचलित है। मोहन राकेश ने अपने नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटक 'आठवां सर्ग' की नाट्य-कथा के केंद्र में कालिदास के मिथकीय जीवन-संघर्ष और उससे उत्पन्न परिवेश को प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त 'सेतुबंध' नाटक में भी सुरेन्द्र वर्मा ने अप्रत्यक्ष रूप से कालिदास के जीवन को जोड़कर प्रस्तुत किया है। दोनों ही नाटककारों ने कालिदास से संबंधित पौराणिक मिथकीय कथा के माध्यम से एक आधुनिक जीवनबोध को ही प्रस्तुत किया है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। दोनों ही नाटकों के कथानक को देखें तो वह एक मिथकीय पौराणिक कथा है। पौराणिक कलेवर में यह आधुनिक मानव के जीवन को प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार आधुनिक मानव के चारों ओर द्वंद्व, जटिल जीवन-शैली, भटकाव, द्वेष, कुटिलता, राजनीति और अस्तित्व की खोज जैसे सवाल खड़े हैं, उसी प्रकार दोनों ही नाटकों के कथानक में भी बाह्य और आंतरिक जटिलताओं से घिरे नाट्य-चरित्रों को देखा जा सकता है। 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास आधुनिक मानव और एक रचनाकार का प्रतीकात्मक चरित्र है। जो अपनी अस्मिता निर्माण के लिए भटकता ही रहता है। द्वंद्व में फंसा जीवन में किसी एक पक्ष में निर्णय ही नहीं ले पाता है। अपनी जड़ अर्थात् अपनी भूमि अपने जनों से दूर होकर जिस प्रकार न जाने कितने आधुनिक मानव अपने जीवन में अपनी अस्मिता की खोज में

संघर्षरत हैं उसी प्रकार 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास अपने परिवेश और अपनी परिस्थितियों में संघर्षरत है। नाट्य-कथानक मूलतः कालिदास और उसकी प्रेमिका मल्लिका के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता है। बाह्य दृष्टि से नाटक को देखें तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह नाट्य-कथा कालिदास और मल्लिका के प्रेम की कथा हो जिसमें मल्लिका को अपना सर्वस्व त्याग कर भी उसे उसका प्रेम नहीं मिलता और कालिदास जीवन में सभी सुखों को पाकर भी अंततः सुखी नहीं हो पाता। नाट्य-कथानक का समापन भी सुखांत नहीं है, किन्तु नाटक के इस पौराणिक परंपरागत कलेवर में भी कथानक आधुनिक मानव के जीवन संघर्ष को ही अप्रत्यक्ष रूप से चित्रित करता है। जैसे- कालिदास का नाटक के प्रारंभ से अंत तक, द्वंद्व में अपनी अस्मिता की तलाश में भटकते रहना। कालिदास का घर वापसी न होता देख निराश-हताश मल्लिका का विलोम से विवाह कर लेना आदि नाट्य-कथासूत्र आधुनिक जीवन के ही प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार आज की तमाम आधुनिक स्त्रियाँ अपने टूटे संबंधों को ढोना नहीं, उसे छोड़कर आगे बढ़ जाना उचित समझती हैं, उसी प्रकार मल्लिका का आधुनिक चरित्र नाट्य-कथानक में देखा जा सकता है।

'आठवां सर्ग' के कथानक की बात करें तो यह नाटक भी अपने मिथकीय पौराणिक परम्परगत स्वरूप में आधुनिक जीवन की कथा को ही प्रस्तुत करता है। कथानक ऐतिहासिक पुरुष कवि कालिदास, उसकी रचना, रचना पर उठने वाले अश्लीलता तथा श्लीलता जैसे प्रश्न और उस पर लगाए गए प्रतिबंध जैसे कई प्रसंगों के इर्द-गिर्द घूमता है। नाट्य कथानक को पढ़ते हुए या इसका मंचन देखते हुए स्वतः ही पाठक या दर्शक को यह अनुभव होता है कि यह कथा सिर्फ एक कवि के रूप में कालिदास की नहीं कही जा रही है, बल्कि कथानक में वर्षों से आज आधुनिक युग तक संघर्षरत एक रचनाकर के संघर्ष की कथा कही जा रही है। संघर्ष उस सत्ता के विरुद्ध जिसे रचनाकर्म और उससे जुड़ी तमाम बातों का अल्पज्ञान होता है। जिसके परिणाम स्वरूप रचनाकर और उसकी रचना का सही मूल्यांकन किये बिना उस पर प्रतिबंध लगा देते हैं। ऐसे में या तो एक रचनाकार को अपने रचनाधर्म के प्रति आँख मूंदनी पड़ती हैं और सत्ता के अनुसार अपने रचनाकर्म को आगे

बढ़ाना पड़ता है या कालिदास के समान अपने रचनाकर्म के प्रति पूरी ईमानदारी और निष्ठा रखते हुए रचना पर प्रतिबंध तो स्वीकार करता है, लेकिन रचना में किसी भी प्रकार का दोष नहीं आने देता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सत्ता के विरुद्ध लिखी गई रचनाओं पर प्रतिबन्ध लगते रहे हैं और कई बार तो एक रचनाकार को सत्ता के विरुद्ध जाकर रचना करने की कीमत उन्हें अपनी जान देकर भी चुकानी पड़ी है। ऐसे में सुरेन्द्र वर्मा का 'आठवां सर्ग' नाटक का कथानक भी मिथकीय पौराणिक परंपरागत कथा शैली में होते हुए भी आधुनिक मानव और एक रचनाकर के संघर्ष को प्रस्तुत करने में सफल है।

लेकिन दोनों ही नाटककारों के नाटकों के संबंध में जो एक विशेष बात कही जा सकती है वह यह है कि इनके नाटकों में कथानक से अधिक महत्त्वपूर्ण इनके पात्र-चरित्र हैं। जो सम्पूर्ण नाटक को अपने लक्ष्य तक पहुँचाने में एक अहम् भूमिका निभाते हैं। आशीष त्रिपाठी द्वारा संपादित पुस्तक 'कृति मूल्यांकन : आषाढ़ का एक दिन' में सुकृति मिश्रा अपने लेख में लिखती हैं, "मोहन राकेश के नाटकों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उनके नाटक घटना प्रधान न होकर चरित्र प्रधान होते हैं। आषाढ़ का एक दिन भी ऐसा ही नाटक है, जिसमें घटना या कथानक बहुत विशेष नहीं है। यह नाटक अपने चरित्रों और उनके संवादों के कारण उत्कृष्टता को प्राप्त करता है।"[3]

सुरेन्द्र वर्मा मोहन राकेश की नाट्य-परिपाटी को आगे बढ़ाने वाले नाटककार के रूप में भी जाने जाते हैं क्योंकि मोहन राकेश के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता का जो आग्रह देखा जा सकता है, वही नाट्य-स्वरूप सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में भी देखा जा सकता है। इस क्रम में ऐतिहासिक पौराणिक परंपरागत आख्यान के माध्यम से आधुनिक जीवन की जटिलताओं को अपने नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत करना ही दोनों नाटककारों का ध्येय है। इस बात की पुष्टि रमेश गौतम अपनी पुस्तक 'रंगानुभव के बहुरंग' में लिखते हुए कहते हैं, "समकालीन रचनाधर्मी मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा तो एक ही रचनाभूमि पर खड़े हैं, क्योंकि दोनों के द्वारा इतिहास मिथकीय पृष्ठभूमि में समकालीन जीवन की वैयक्तिक एवं सामाजिक उलझनों को द्वंद्व और तनावग्रस्तता के साथ अन्वेषित करने का प्रयास हुआ

है। दोनों ही रचनाधर्मी आधुनिक जीवन-संघर्षों एवं संदर्भों को मिथकीय इतिहास के आश्रय द्वारा उकेरने का प्रयास करते लगते हैं। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में इतिहास तथा पौराणिक सन्दर्भ उसी रूप में आये हैं जिस रूप में मोहन राकेश के नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' में। इस रूप में हिंदी नाट्य-परंपरा में सुरेन्द्र वर्मा, मोहन राकेश की अगली कड़ी कहे जा सकते हैं। जो उनकी परंपरा के संवाहक हैं।"[4]

मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और सुरेन्द्र वर्मा का नाटक 'आठवां सर्ग' का मुख्य पुरुष पात्र कालिदास है। एक ऐसा ऐतिहासिक भारतीय परंपरा से जुड़ा हुआ पात्र जिसकी शिक्षा-दीक्षा के सन्दर्भ में, परवर्ती जीवन के सन्दर्भ में तमाम किंवदंतियां प्रचलित हैं। इसके बाद भी जिसकी प्रतिष्ठा एक संस्कृत के महाकवि के रूप में स्थापित है। मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के कालिदास की बात करें तो दोनों ने यूँ तो आधुनिक मानव और एक संघर्षरत रचनाकार के रूप में कालिदास को चित्रित किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास को मोहन राकेश ने एक श्रेष्ठ कवि के रूप में तो चित्रित किया है, किन्तु द्वंद्वों में घिरा हुआ एक दुर्बल इंसान के रूप में भी प्रस्तुत किया है। जिसके लिए कई विद्वानों ने मोहन राकेश के यह कहने के बाद कि उनके लिए कालिदास एक व्यक्ति नहीं बल्कि हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, उनके इस कालिदास के चरित्र की आलोचना की है, "सबसे बड़ा आक्षेप कालिदास के संशययुक्त, आत्मकेंद्रित, दुर्बल व्यक्तित्व को लेकर किया जाता है। यह सही है कि कालिदास के संबंध में प्रामाणिक तथ्य बहुत कम उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में विशाल एंव विराट साहित्य की रचना करने वाले महाकवि को मन से इतना दुर्बल और रीढविहीन दिखलाने की क्या आवश्यकता थी ?"[5] लेकिन मोहन राकेश कालिदास के चरित्र को संभवतः दो अर्थो में चित्रित करते हैं। प्रथम तो वह एक बनते हुए कवि के संघर्ष और सफलता के शिखर पर पहुँच जाने के पश्चात् द्वंद्व में घिरा एक कवि के खोने और पाने की नाट्य-रूप प्रस्तुति करते हैं। दूसरा आधुनिक मानव के अंतर्द्वंद्व, जटिलता और विवशता को प्रस्तुत करते हैं। गिरीश रस्तोगी ने भी अपनी पुस्तक 'हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष' में इस बात के सन्दर्भ में लिखती हैं, " 'आषाढ़ का एक

दिन' कवि कालिदास के जीवन से संबंधित नाटक है, लेकिन नाटक कालिदास के कवि रूप में प्रसिद्ध होने के बाद उतना नहीं है जितना एक बनते हुए कवि और प्रसिद्धि के चरम शिखर पर पहुँचने वाले कवि का है। लेकिन वस्तुतः यह आधुनिक मानव की विवशता, उसके अंतर्द्वंद्व का, उसकी जटिलता का नाटक है।"[6]

सुरेन्द्र वर्मा का नाटक 'आठवां सर्ग' के कालिदास की बात करें तो वह एक दृढ़ निश्चय रखने वाला एक साहित्यकार एक कवि है। जिसकी जीवन-दृष्टि स्पष्ट है। जो एक साहित्यकार के रूप में सत्ता से समझौता नहीं करता है। वह अपने कवि-कर्म से अंततः भटकता नहीं है। सुरेन्द्र वर्मा का कालिदास प्रतीक है, सदियों से उस रचनाकार का जो वचनबद्ध है अपने सच्चे रचनाकर्म के प्रति, जो सत्ताधारियों के अनुरूप रचना नहीं करता, जिससे उसको झूठी प्रतिष्ठा और जीवन के विभिन्न वैभव प्राप्त हो जाएँ। बल्कि साहित्य सृजन के माध्यम से समाज के प्रति अपने कर्तव्य को पूरी निष्ठा से पूरा करता है। जिससे भले सत्ता से वह सम्मान न प्राप्त हो, किन्तु समाज उसे उसकी श्रेष्ठ रचना के लिए जरूर एक दिन समाज में प्रतिष्ठित करता है। 'आठवां सर्ग' का कालिदास भी सत्ता के विरुद्ध ही अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को स्थापित करता है। जिसके लिए उसे बहुत ही संघर्षरत रहना पड़ता है, "महाकवि कालिदास के 'कुमार संभव' के आठवें सर्ग को आधार बनाकर सुरेन्द्र वर्मा ने लेखकीय अभिव्यक्ति की मूल समस्या को उठाया है और इसलिए शासन, सत्ता और राज्याश्रय की महत्त्वपूर्ण समस्याओं को लेकर लेखकीय अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य और शासन की टकराहट को प्रस्तुत किया है।"[7] मोहन राकेश का कालिदास सुरेन्द्र वर्मा के कालिदास के समान दृढ़ संकल्पित नहीं होता है। वह निर्णायक समय में एक कमजोर पात्र प्रतीत होता है। वह अपनी प्रेरणा स्वरूप जमीन और न अपनी प्रेमिका मल्लिका से ही जुड़कर रह पाया और पूरे नाटक में द्वंद्व में ही भटकता हुआ एक कमजोर पात्र साबित होता है। मोहन राकेश का कालिदास एक आधुनिक युगीन मानव है जो अपने व्यक्तित्व निर्माण में भटक रहा है। द्वंद्व में घिरा वह निर्णय लेने में असमर्थ है। दूसरी ओर वह ऐसा साहित्यकार भी है जो न व्यवस्था से जुड़कर रह पा रहा है, न उस सत्ता से समझौता करके आगे बढ़

पा रहा है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास का यह द्वंद्व ही उसे एक कमजोर चरित्र के रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार देखें तो दोनों ही नाटककारों ने कालिदास के माध्यम से एक रचनाकार और उसके संघर्ष को प्रस्तुत किया है। गिरीश रस्तोगी ने 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आठवां सर्ग' को एक रचनाकर के अस्मिता और व्यापक संघर्ष चेतना का काव्य नाटक कहकर संबोधित किया है। दोनों ही कालिदास पात्रों के चारों ओर राजकीय शासकीय कूटनीति है, पाखण्ड है, व्यंग्य है। जिसमें दोनों अपनी अस्मिता निर्माण के लिए संघर्षरत हैं। लेकिन उस संघर्ष में दोनों ही कालिदास को एक-दूसरे से भिन्न करते हैं, वह है उनका व्यक्तित्व और निर्णय लेने की क्षमता। दोनों के नाटकों के कुछ अंशों से भी इस बात को समझा जा सकता है। 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास एक रचनाकार के रूप में अपनी अस्मिता निर्माण के दिनों में प्रारंभ से ही ठोस निर्णय लेने में अक्षम दिखता है। वह द्वंद्व में घिरा हुआ एक आधुनिक मानव का बोध करवाता है। नाटक के तीसरे अंक में जब वह अंततः लौटकर अपने प्रांत वापस आता है और मल्लिका के घर पहुँचता है, जहाँ वह मल्लिका के समक्ष अपना आत्मचिंतन करता है। नाटक के इस स्थल पर बोध होता है कि द्वंद्व में घिरा हुआ कालिदास किस प्रकार निर्णय लेने में एक कमजोर व्यक्तित्व का इंसान है। कालिदास मल्लिका से कहता है, "कालिदास: मैंने बहुत बार अपने संबंध में सोचा है मल्लिका और हर बार इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अम्बिका ठीक कहती थी। मैं यहाँ से क्यों नहीं जाना चाहता था ? एक कारण यह भी था कि मुझे अपने पर विश्वास नहीं था। मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर में कैसा अनुभव करूँगा। मन में कहीं यह आशंका थी कि वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा और यह आशंका निराधार नहीं थी। मैं अपने को आश्वासन देता कि आज नहीं तो कल मैं परिस्थितियों पर वश पा लूँगा और समान रूप से दोनों क्षेत्रों में अपने को बाँट दूंगा। परंतु मैं स्वयं ही परिस्थितियों के हाथों बनता और चालित होता रहा। जिस कल की मुझे प्रतीक्षा थी, वह कल कभी नहीं आया और मैं धीरे-धीरे खंडित होता गया और एक दिन मैंने पाया कि मैं सर्वथा टूट गया हूं।"[8]

वहीं 'आठवां सर्ग' के कालिदास की बात करें तो वह नाटक के प्रारम्भ से ही एक ऐसा व्यक्तित्व का इंसान है जिसने सत्ता के गलत नीति- निर्देशों के आगे झुकने से इनकार कर दिया। एक ऐसा रचनाकार जो अपने रचनाकर्म के प्रति पूर्ण निष्ठावान है। 'आठवां सर्ग' पर अश्लीलता का आरोप लगाकर जब उस पर प्रतिबंध लगा देने की बात कही जाती है, तब चन्द्रगुप्त कालिदास को यह सलाह देता है कि वह आठवें सर्ग के कथा में परिवर्तन कर दे, जिससे उसकी रचना पर प्रतिबंध हटा दिया जाए। किन्तु कालिदास यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि किसी भी परिस्थिति में वह अपनी रचना में परिवर्तन नहीं करेगा। कालिदास कहता है कि एक साहित्यकार होने के नाते उसका यह धर्म है कि वह अपनी रचना में किसी भी प्रकार का दोष न आने दे। अतः उसे अपनी रचना पर प्रतिबंध स्वीकार है, किन्तु दोषपूर्ण परिवर्तन नहीं। कालिदास नाटक के दूसरे अंक में एक स्थान पर चन्द्रगुप्त से इस संबंध में तर्क करते हुए कहता है, "कालिदास: यह कलंक भी छोटा नहीं, बहुत बड़ा होगा। रचनात्मक शैथिल्य का कलंक नहीं, अपमानित समझौते का कलंक और मुझे दुःख इस बात का है कि आप स्वयं ऐसा रास्ता सुझा सकते हैं, जिन्होंने कलाकारों को हर तरह की सुविधाएँ दी हैं, उनके अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का समर्थन किया है। कुमारसम्भव को मैं अधूरा ही छोड़ दूंगा, आठवें सर्ग पर.. आगे नहीं लिखूंगा। इस रचना को एक प्रकार से भुला ही दूंगा। यह कभी मेरे घर से बाहर नहीं निकलेगी। किसी गोष्ठी में इसका पाठ नहीं होगा। किसी तक इसकी प्रतिलिपि नहीं पहुँचेगी। इतने से लोग संतुष्ट हो जाएंगे ? फिर तो किसी को आपत्ति नहीं होगी ? कई बार श्रम व्यर्थ भी तो हो जाता है। समझ लूँगा कि कुमार का जन्म संभव नहीं हुआ, गर्भ में ही उसकी हत्या हो गयी। तारक जीवित है, तो रहे। मुझे क्या ?"[9] इस प्रकार 'आठवां सर्ग' के कालिदास की दृष्टि रचनाकार के रूप में स्पष्ट है। चन्द्रगुप्त के कहने पर भी कालिदास अपनी रचना में परिवर्तन के सुझाव को स्वीकार नहीं करता है। इसके बावजूद कि सत्ता से जुड़कर रहने पर उसे लाभ और सत्ता से विपरीत कार्य करने पर हानि उठाने पड़ सकते हैं। इस रूप में 'आठवां सर्ग' का कालिदास दृढ़ चरित्र का है जो अपने साहित्यिक कर्त्तव्य के प्रति वचनबद्ध है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास और 'आठवां सर्ग' का कालिदास

दोनों ही एक आधुनिक रचनाकार का ही प्रतीक हैं। दोनों के चरित्र में अंतर बस इतना है कि एक कालिदास रचनाकार के रूप में अस्मिता निर्माण और संघर्ष में आधुनिक मानव के भांति द्वंद्वों में घिरा हुआ। सत्ता से जुड़कर जीवन के सारे भौतिक सुखों को प्राप्तकर अपनी पहचान भी एक सफल रचनाकार के रूप में स्थापित कर लेता है। किन्तु आंतरिक रूप से उसका व्यक्तित्व अंत तक कहीं ठहराव नहीं प्राप्त करता है। आधुनिक मानव की भांति वह अपने व्यक्तित्व के निर्माण में यहाँ से वहाँ भटकता ही रहता है। दूसरी ओर सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'आठवां सर्ग' का कालिदास एक रचनाकार की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करता है। सत्ता द्वारा अपनी रचना पर प्रतिबंध स्वीकार करता है, किन्तु वह अपनी रचना को सत्ता के हाथों की कठपुतली नहीं बनने देता है। उसे पूर्ण विश्वास होता है कि एक न एक दिन उसकी रचना लोकजन में अपना सही स्थान और महत्त्व स्थापित कर लेगी। कालिदास कहता भी है, "कालिदास : जीवन के एक मोड़ पर सत्ता की सहायता की आवश्यकता थी... अब नहीं है। .. अब ? अगर शासन मेरी रचना पर यहाँ रोक लगायेगा, तो वह दूसरे राज्य में सप्तम सुर में सुनी जायेगी।"[10]

इस प्रकार दोनों ही नाटकों के कालिदास के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि दोनों ही आधुनिक मानव के प्रतीकात्मक चरित्र हैं। दोनों में अन्तर यह है कि 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास आधुनिककाल के उस मानव या रचनाकार का प्रतीकात्मक चरित्र है, जो द्वंद्वों में घिरा अपनी अस्मिता निर्माण हेतु भटका हुआ है। जीवन के उन पलों में निर्णय लेने में एक कमजोर पात्र-चरित्र है, जो पल उसके जीवन दिशा को बदल कर रख देता है। अतः कहें तो नाटक में कालिदास के व्यक्तित्व का यह कमजोर पक्ष है। जो प्रतीक है उस आधुनिक मनुष्यों का जिसका बाह्य जीवन तो सुखी संपन्न प्रतीत होता है, किन्तु अक्सर द्वंद्वों में घिरा वह व्यक्ति खुद में निर्बल असहाय महसूस करता है। टूटा हुआ थका हुआ 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास के समान प्रतीत होता है। वहीं 'आठवां सर्ग' का कालिदास आधुनिक समकालीन समय का वह प्रतीकात्मक रचनाकार है, जो एक रचनाकार के अभिव्यक्ति की आज़ादी की रक्षा करता है। सत्ताधारियों के विरुद्ध अपने रचनाधर्म

को पूरी निष्ठा और ईमानदारी से निभाता है। इस उम्मीद से कि सत्ता द्वारा एक समय में उसे और उसकी रचना को वह सम्मान और प्रतिष्ठा भले न मिल पाये, किन्तु समाज एक दिन उसकी रचना का सही मूल्यांकन कर उसे वह सम्मान और प्रतिष्ठा अवश्य देगा, जिसका वह हकदार है। अतः 'आठवां सर्ग' का कालिदास एक दृढ़ संकल्पि चरित्र का रचनाकार है जो रचना और अभिव्यक्ति की आज़ादी की रक्षा हर कीमत पर करने को संकल्पित है। इस प्रकार दोनों ही नाटकों का कालिदास आधुनिक युग का प्रतीकात्मक चरित्र है जो आधुनिक मनुष्य के दो अलग-अलग पक्षों और व्यक्तित्व को चित्रित करता है।

5.2 'आषाढ़ का एक दिन' और 'सेतुबंध'

कालिदास के जीवन से संबंधित सुरेन्द्र वर्मा की जो एक और रचना है वह है 'सेतुबंध'। किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के इस नाटक में कालिदास प्रत्यक्ष रूप से कहीं भी उपस्थित नहीं रहे हैं। कालिदास चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती का प्रेमी था, लेकिन चन्द्रगुप्त अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं के आगे अपनी पुत्री प्रभावती और कालिदास के प्रेम की बलि चढ़ा देता है और प्रभावती का विवाह वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन के साथ कर देता है। कालिदास इस नाटक में अप्रत्यक्ष रूप से कहानी के विकास में सहायक बनकर रह जाता है। सुरेन्द्र वर्मा का कालिदास जैसे लोकप्रसिद्ध महाकवि का नाटक में प्रत्यक्ष रूप से चरित्र प्रस्तुत न करना एक बार मन में प्रश्न उत्पन्न करता है किन्तु नाटककार का उद्देश्य यहाँ कालिदास की कथा प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि प्रभावती और रुद्रसेन के पुत्र प्रवरसेन की पीड़ादायक मनःस्थिति और उससे अपने मन में उठने वाले अपनी अस्मिता से संबंधित प्रश्नों का उत्तर ढूंढना है, "प्रस्तुत नाटक में अस्मिता के संकटबोध को व्यापक फलक पर कथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के माध्यम से व्यक्त किया गया है। रुद्रसेन और प्रभावती के विवशतावश बने संबंधों से उत्पन्न प्रवरसेन की मनःस्थिति बहुत ही त्रासद और पीड़ादायक है।"[11] दरअसल यह नाटक भी प्रवरसेन के माध्यम से आधुनिक मानव के द्वंद्व, पीड़ा और अपनी अस्मिता पर उठने वाले अपने ही मन के प्रश्नों को ढूंढने से जुड़ा हुआ है। समकालीन समाज में हर एक व्यक्ति अपने स्वतंत्र अस्तित्व

और अस्मिता का निर्माण करना चाहता है। किन्तु जब किसी को यह बोध हो कि उसकी पहचान उसकी न होकर किसी और के कारण हो तो उसके व्यक्तित्व को ठेस अवश्य ही पहुँचती है। आज का आधुनिक मनुष्य अपनी ज़िंदगी को अपनी दृष्टि से देखता है, उसका मूल्यांकन करता है और अपने लिए राह खुद ढूँढना चाहता है। मिथकीय पौराणिक कथा के माध्यम से आधुनिक मनुष्य की इस अकुलाहट को चित्रित करना ही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है।

कालिदास से संबंधित मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और सुरेन्द्र वर्मा कृत 'सेतुबंध' और 'आठवां सर्ग' नाटक में अन्य कई ऐसे पुरुष और स्त्री पात्र हैं, जिनमें आधुनिक मानव का चरित्र दिखता है। साथ ही उनके चरित्र में परंपरा के तत्व भी दिखते हैं। सर्वप्रथम दोनों ही नाटकों के अन्य पुरुष पात्रों के चरित्रों का मूल्यांकन और तुलना करें तो 'आषाढ़ का एक दिन' का 'विलोम' जिसका चरित्र-चित्रण एक खल यानी नकारात्मक छवि वाले एक व्यक्ति के रूप में हुआ है। जो कालिदास और मल्लिका की ज़िंदगी में बिन बुलाए हर बार आ जाता है। जिससे उनकी दुःख या समस्याओं का निवारण नहीं होता, बल्कि वह और भी उन्हें अपने शब्दों से विचलित कर देता है। 'विलोम' आधुनिक मनुष्य का वह प्रतीक पात्र-चरित्र है जो अक्सर बिन बुलाए लोगों के बीच आ जाता है और अपने हाव-भाव और वाक्-पटुता से अपना प्रभाव लोगों के बीच स्थापित करना चाहता है। वह अपने उद्देश्य को लेकर काफी हद तक स्पष्ट होता है। वह अपने जीवन में संवेदना को अधिक महत्त्व नहीं देता है और आज के आधुनिक मानव के समान बहुत ही व्यावहारिक होता है, "विलोम की दृष्टि अधिक व्यावहारिक है, भावनाएँ उसे प्रभावित नहीं करतीं, लेकिन व्यावहारिक जीवन में वह बड़ा चतुर है और बड़ा संयमित भी है। कालिदास से बराबर टकराने वाला और अपने 'अनाधिकार प्रवेश को हमेशा सही सिद्ध करने वाला है। कालिदास अन्तर्मुखी है, अपने ही द्वंद्व से पीड़ित और भावनाओं से उद्वेलित। विलोम समय की रग को पकड़कर बड़ी कुशलता से अपने अस्तित्व को बनाये रखने वाला व्यक्ति है। कालिदास, मल्लिका, अम्बिका जब-जब भावना और द्वंद्व की चरम सीमा पर हैं तब वह उन्हें छेड़ता है, अपनी उपस्थिति का पूरा एहसास कराता है और

अवसर का पूरा फायदा उठाता है- यही आज की व्यावहारिक और यथार्थ दृष्टि है।"[12] सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सेतुबंध' का चन्द्रगुप्त और 'आठवां सर्ग' का पात्र 'चन्द्रगुप्त' का चरित्र भी विलोम के समान व्यावहारिक है। भावनाओं को ये दोनों भी विशेष महत्त्व नहीं देते हैं। 'सेतुबंध' के चन्द्रगुप्त की बात करें तो वह अपने सत्ता विस्तार और सत्तामद में कालिदास और प्रभावती के प्रेम की बलि चढ़ा देता है और वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन से प्रभावती का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध करवा देता है, "ब्याह से दोहरे उद्देश्य पूरे होंगे-वाकाटक गुप्त सम्राट के प्रभाव क्षेत्र में आ जाएँगे और शक उनके अधिकार क्षेत्र में ..मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र की बहुत उपजाऊ भूमि के हाथ में आ जाने से एक ओर तो शासन की समृद्धि बढ़ेंगी और दूसरी ओर साम्राज्य की सीमाएँ बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक निषेध फैल जाएगी।"[13] इस प्रकार देखें तो चन्द्रगुप्त आधुनिक शासक का ही प्रतिनिधि पात्र चरित्र है, जो अपने राजनैति फायदे के लिए अपनी पुत्री प्रभावती की ख़ुशी की बलि भी चढ़ा देता है। आज जिस प्रकार जनता सत्ता के हाथों की कठपुतली बन चुकी है, जिस प्रकार जनता के सुख-दुख से सत्ता पक्ष को विशेष लगाव नहीं होता है, वैसे ही चन्द्रगुप्त भी अपनी पुत्री की ख़ुशी से अधिक अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं को ही महत्त्व देता है। अतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'सेतुबंध' का चन्द्रगुप्त आधुनिक सत्ताधारियों का ही प्रतीक पात्र है। जिसको अपनी जनता से अधिक अपनी सत्ता और सत्ता-विस्तार की पड़ी होती है। दूसरी ओर 'आठवां सर्ग' के 'चन्द्रगुप्त' की बात करें तो उसका चरित्र 'आषाढ़ का एक दिन' के 'विलोम' और 'सेतुबंध' के 'चन्द्रगुप्त के समान ही प्रतीक है, उस आधुनिक मानव का या उस शासक का जिसके पास पद तो जरूर होता है या उसे सही गलत का बोध तो जरूर होता है, लेकिन वह एक निर्णायक के किरदार में न होकर मात्र न्यायधीश के पात्र में होता है, जिसे बस आदेश सुना देना है। सत्ता की दशा और दिशा कोई और तय करता है। वह एक शासक के रूप में अपने राज्य के लेखकों और कलाकारों को प्रोत्साहित करता है, लेकिन जब बात आती है उस शासकीय व्यवस्था की तब वह राज्य की धार्मिक व्यवस्था के आगे लाचार हो जाता है और कालिदास से 'आठवां सर्ग' में परिवर्तन करने

को कहता है जिसके बाद ही रचना पर लगा हुआ प्रतिबंध हटाया जा सकता है। चन्द्रगुप्त कालिदास से कहता है, "पर आज जो स्थिति है, उसमें मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं बिल्कुल असहाय हूँ, मेरे हाथ बंधे हुए हैं, क्योंकि आरोप लगाने वालों के शरीर पर धर्म का अभेद कवच है।"[14] इस प्रकार आठवां सर्ग' का 'चन्द्रगुप्त' एक शासक या आधुनिक मनुष्य का वह प्रतीक पात्र चरित्र है, जो रूढ़िगत परंपरा के हाथों एक कठपुतली बनकर रह जाता है। सत्ता,परिवार या किसी संस्थान के शीर्ष पद पर आसीन रहते हुए भी वह एक ठोस निर्णय लेने में लाचार होता है।

'आषाढ़ का एक दिन' का पात्र 'मातुल' कालिदास का मामा है। वह भी आज के आधुनिक मनुष्य का ऐसा प्रतीकात्मक चरित्र है, जिसके लिए रिश्ते से बढ़कर सांसारिक भौतिक सुख या लाभ हैं। प्रारंभ में वह कालिदास के राजकवि के पद प्रस्ताव को न स्वीकार करने पर नाराज़ होता है। वह खीजता है। वह कालिदास के काव्य कर्म को बिना राज्याश्रय के अधूरा मूल्यहीन मानता है। तभी तो मातुल कहता है, "सम्मान मिलता है, ग्रहण करो। नहीं तो कविता का मूल्य ही क्या है ?"[15] मातुल का चरित्र 'सेतुबंध' के चन्द्रगुप्त से भी समानता रखता है, क्योंकि मातुल के समान चन्द्रगुप्त अपनी पुत्री प्रभावती के प्रति निष्ठुर है। चन्द्रगुप्त प्रभावती से कालिदास को त्याग देने को कहता है, क्योंकि वह अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं के आगे प्रभावती और कालिदास के प्रेम को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता है। किन्तु जब वह अपने निर्णय के प्रति दृढ़ रहती है तब चन्द्रगुप्त अपनी पुत्री से भी राजनीतिक भाषा में ही संवाद करता है। वह कहता है, "क्या प्रभावती यह चाहेगी कि एक नवोदित कवि, जिसमें विलक्षण प्रतिभा है, जिसका यश और जिसकी कीर्ति दिगदिगंतर में गूंज सकती है, कारागार की किसी अंधेरी कोठरी में एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मरे ?"[16] जिसके बाद प्रभावती टूट जाती है और अपने प्रेम की रक्षा हेतु रुद्रसेन से विवाह करना स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'आषाढ़ का एक दिन' का मातुल और 'सेतुबंध' का 'चन्द्रगुप्त' दोनों ही आधुनिक परिवार के वह ऐसे प्रतीकात्मक पात्र चरित्र हैं, जिनके लिए रिश्तों का महत्त्व किसी रिश्ते में होने वाले प्राप्त लाभ तक सीमित है।

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में कालिदास के जीवन से जुड़े नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'सेतुबंध' और 'आठवां सर्ग' में स्त्री पात्रों की बात करें तो इनके चरित्रों में भी परंपरागत और आधुनिक लक्षण दोनों ही दिखते हैं। जैसे मल्लिका के चरित्र की तुलना 'सेतुबंध' नाटक की प्रभावती से करें तो हम देखते हैं कि दोनों ही पात्रों के चरित्र में परंपरागत और आधुनिक तत्व विद्यमान हैं। जैसे मल्लिका अपने प्रेमी कालिदास को स्वयं राजकवि बनने भेज देती है। जिससे उसके चरित्र में एक त्याग करने वाली परंपरागत नारी का स्वरूप दिखता है। कालिदास को राजकवि के लिए भेजकर खुद की खुशियों की तिलांजलि देना मल्लिका के चरित्र को और भी श्रेष्ठ बनाता है, "भावना में जीने वाली मल्लिका कालिदास के साथ अपने प्रेम-संबंध को सब संबंधों से बड़ा मानती है। इसीलिए जब उसे राजकवि का सम्मान मिलता है तो वह उसे उज्जयिनी जाने के लिए प्रेरित करती है- रेखा की तरह घेरने की बजाय वह उसे विस्तृत क्षितिज के द्वारा उन्मुक्त कर देती है। वह अभाव झेलती है- वीरांगना जैसे अस्तित्व भोगती है, किन्तु उसका आस्था-भाव बना रहता है।"[17] इस प्रकार मल्लिका के चरित्र में एक भारतीय परंपरागत नारी की छवि देखी जा सकती है। जिसके लिए प्रेम निजी सुखों को पाना नहीं है, बल्कि अपनों के लिए खुद के सुखों का त्याग करना है। भारत में स्त्रियाँ त्याग और समर्पण के लिए सदा से जानी गई हैं। मल्लिका भी प्रतीक है उस भारतीय नारी की जो प्रेम में त्याग करती है। आज के आधुनिक काल में जहाँ प्रेम का अर्थ बदलता जा रहा है। ऐसे में मल्लिका के चरित्र का यह एक पक्ष जिसमें अपने सुखों का त्याग कर देती है वह आधुनिक मनुष्यों के लिए आदर्श स्थापित करती है। मल्लिका के चरित्र की तुलना प्रभावती से करें तो प्रभावती के चरित्र में भी एक परंपरावादी और आधुनिक स्त्री की छवि देखी जा सकती है। प्रभावती भी अपने प्रेमी कालिदास के जीवन और रचनाकार के रूप में उसके अस्तित्व की रक्षा हेतु पिता चन्द्रगुप्त की धमकी के आगे अपने प्रेम का त्याग कर देती है। जिसके पश्चात् वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन से विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है, "प्रभावती: क्योंकि उसके अलावा और कोई चारा नहीं था। जब हामी भरी थी, तभी अपने भावी जीवन की रूपरेखा जैसे मानचित्र की तरह सामने खिंच

गयी थी। मन को तरह-तरह से समझा लिया था कि यह एक राजनैतिक ब्याह है, इसका भावात्मक मूल्यांकन कभी नहीं करना। क्योंकि संबंध किसका होना था ? सम्राट की पुत्री का। मैं, प्रभावती उसमें कहीं नहीं थी। सजल नैनों पर दुकूल रखे प्रभावती उज्जयिनी के राजप्रासाद में ही छूट गयी।"[18] इस प्रकार यहाँ कहा जा सकता है कि मल्लिका और प्रभावती दोनों ही के चरित्र में परंपरावादी स्त्री की छवि देखी जा सकती है। दोनों का प्रेमी नायक कालिदास है और अपने प्रेम के सुनहरे भविष्य के लिए दोनों ही अपनी-अपनी खुशियों का त्याग करती हैं। मल्लिका एवं प्रभावती के अतिरिक्त सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'आठवां सर्ग' की एक और स्त्री पात्र है जिसके चरित्र में परंपरावादी भारतीय स्त्री की छवि देखी जा सकती है। वह है 'आठवां सर्ग' के 'कालिदास' की पत्नी 'प्रियंगुमंजरी'। किन्तु प्रियंगुमंजरी के चरित्र में जो परंपरावादी स्त्री की छवि दिखती है वह मल्लिका और प्रभावती से भिन्न मायने में है। प्रियंगु का चरित्र पूर्णतः एक भारतीय परंपरागत स्त्री का है। जिसमें एक लोक-लाज है। वह कालिदास के साथ अपने वैवाहिक जीवन को एक परंपरागत भारतीय दाम्पत्य के समान बिल्कुल शयनागार के अन्दर ही रखना चाहती है। जबकि कालिदास एक रचनाकर के रूप में अपने वैवाहिक जीवन के निजी अनुभवों को भी अपनी रचना 'कुमारसंभव' के 'आठवां सर्ग' में शिव-पार्वती के प्रणय वर्णन में करते हैं। इन वर्णनों से प्रियंगु पूर्णतः लजाती रहती है और सभा में 'आठवां सर्ग' के पाठ के अवसर में सम्मिलित नहीं होना चाहती है। सभा में पाठ न सुनने जाने के पीछे प्रियंगुमंजरी जो तर्क देती है, उससे ज्ञात होता है कि प्रियंगुमंजरी में एक परंपरावादी भारतीय स्त्री का रूप है। वह कालिदास को तर्क देते हुए कहती है, "तुम सर्ग-पाठ प्रारंभ करोगे और लोगों के सामने नवदंपत्ति के अन्तरंग जीवन की परते खुलने लगेंगी। मैं वहीं बैठी रहूंगी, चुपचाप, सर झुकाए..पलक उठाकर किसी की ओर देख नहीं सकूंगी और हर पल, हर क्षण कचोटती रहेंगी यह बात कि तमाम आँखें मेरे ही ऊपर लगी हुई हैं। मुझको ही देखते हुए अनेक अधरों पर सूक्ष्म मुस्कान आ गई है और मुझे ही लेकर अनेक दृष्टियों में गोपनीय संकेतों का आदान-प्रदान हुआ है। हर श्लोक के बाद मैं अपने आप में ही सिमटती जाऊँगी, हर श्लोक के बाद मेरे माथे पर स्वेद-बिंदु उभरते नजर आएँगे, हर श्लोक के

बाद मेरा हृदय- स्पंदन बढ़ता जाएगा... और जब तुम 'इति उमासूरतवर्णन नामाष्टमः सर्ग:' कहकर अंतिम पृष्ठ नीचे रखोगे, तो मेरी यह दशा होगी कि बस, धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊँ"[19] इस प्रकार प्रियंगुमंजरी की बातों से यह अर्थ बोध होता है कि उसमें एक परंपरागत भारतीय स्त्री है जो अपने निजी वैवाहिक जीवन के अनुभवों को शयनागार तक ही रखना चाहती है। इस तरह की परंपरागत वैवाहिक जीवन दृष्टि आज भी आधुनिक भारतीय स्त्रियाँ रखती हैं ऐसा कहना गलत नहीं होगा। अतः यह कहा जा सकता है कि 'आठवां सर्ग' में कालिदास की पत्नी प्रियंगुमंजरी एक परंपरावादी स्त्री है।

'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका के चरित्र में परंपरावादी स्त्री होने के साथ-साथ एक आधुनिक नारी का रूप भी देखने को मिलता है। मोहन राकेश के इस नाटक में मल्लिका के अतिरिक्त मल्लिका की माता अम्बिका के चरित्र में भी आधुनिक स्त्री की छवि देखने को मिलती है। नाटक में वर्षों मल्लिका कालिदास की प्रतीक्षा करने के बाद वह अपनी जड़तों हालातों से आधुनिक स्त्री के समान समझौता कर लेती है और नाटक के खल पात्र विलोम जिसकी वह कभी भी अपने भावी पति के रूप में कल्पना नहीं करती है, उससे अंततःविवाह कर लेती है। कालिदास के प्रति त्याग और प्रेम भावना रखते हुए भी मल्लिका कालिदास के इंतज़ार में खुद को होम नहीं कर लेती है, बल्कि जिस प्रकार आज की आधुनिक स्त्रियाँ प्रेम के असफल हो जाने पर उस रिश्ते को लेकर जड़ नहीं होती, बल्कि एक नया रिश्ता, अपने जीने की नई उम्मीद तलाश लेती हैं। उसी प्रकार मल्लिका अंततः कालिदास से निराश होकर अपनी आगे की ज़िंदगी की डोर विलोम के साथ जोड़ लेती है। इस सन्दर्भ में आभा गुप्ता ठाकुर अपने एक लेख 'स्त्री परिप्रेक्ष्य में' जो आशीष त्रिपाठी द्वारा संपादित पुस्तक 'कृति मूल्यांकन: आषाढ़ का एक दिन' में लिखती हैं, "तुम जीवन से तटस्थ हो सकते हो, परंतु मैं तो अब तटस्थ नहीं हो सकती। जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परंतु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जाने कितनी-कितनी आकृतियाँ हैं। जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण अर्जित किया है और मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं, केवल विशेषण हूँ.....अपना सर्वस्व समर्पण

करने वाली मल्लिका का उपर्युक्त वक्तव्य उसके अस्मिताबोध की भावना को पूरी तरह उजागर कर देता है। अपना सब कुछ खो चुकने एवं अत्यंत दारिद्रय स्थिति में जीते हुए भी वह सत्ता के बोध से वंचित होना नहीं चाहती है। यही वह बिंदु है जहाँ मल्लिका परंपरागत भारतीय नारी के समर्पणमूलक स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए भी अस्मिताबोध की प्रखर चेतना के कारण आधुनिकता के रंग में भी सराबोर हो उठती है।"[20] मल्लिका के इस आधुनिक चरित्र की तुलना 'सेतुबंध' नाटक की प्रभावती से करें तो प्रभावती के चरित्र में भी मल्लिका के समान परंपरागत संस्कार और आधुनिकताबोध का सामंजस्य देखने को मिलता है। जिस प्रकार वह अपने प्रेमी कालिदास के जीवन की रक्षा हेतु रुद्रसेन से विवाह तो कर लेती है, लेकिन वर्षों रुद्रसेन की पत्नी और प्रवरसेन की माँ बनकर भी खुद की भावना को कुँवारी बताती है। इससे प्रभावती के परंपरागत संस्कार झलकते हैं। लेकिन प्रभावती से पुत्र प्रवरसेन द्वारा कालिदास और उसके विवाहपूर्व प्रेम सन्दर्भ में सवाल पूछने पर प्रभावती का बिना किसी संकोच के उत्तर देना, उसके चरित्र में आधुनिकता को दर्शाता है। प्रभावती प्रवरसेन से कहती है, "प्रभावती 'सेतुबंध' नाटक की आधुनिक स्त्री है। वह सच्चाई का वरन करती है, प्रभावती की सोच उस बिंदु पर सर्वथा आधुनिक हो जाती है जहाँ वह अपने पुत्र के समक्ष न केवल अपना आत्मवरण ही स्वीकार करती है, प्रत्युत उसकी प्रतिक्रियाओं पर प्रश्न करती है,

"माँ हूँ, लेकिन स्त्री भी तो हूँ। क्योंकि मां हूँ, इसलिए स्त्री होने का अधिकार.. नहीं ...कौन समझेगा कि मेरी भावना आज तक कुमारी है... मैं मां बनी हूँ, लेकिन पत्नी नहीं। परंपरागत शब्दों को छोड़ दो। क्या कोई स्थिति ऐसी नहीं हो सकती, जिसमें परपुरुष पति बन जाए और पति परपुरुष। प्रभावती का ये कथन परंपरागत भारतीय नारी की दृष्टि से मान्य नहीं हो सकता, लेकिन परिवर्तित नैतिकता के दृष्टिकोण से आधुनिकता-बोध के धरातल पर एक कड़वा सत्य है और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।"[21] इस प्रकार दोनों ही पात्र मल्लिका और प्रभावती के चरित्र में परंपरागत संस्कार भी मिलते हैं और आधुनिकता-बोध भी। दोनों ही अपने प्रेमी कालिदास के सुनहरे भविष्य के लिए अपनी खुशियों की तिलांजलि दे देती हैं। लेकिन फिर भी अपने अन्दर प्रेम के उस दीप को बुझने

नहीं देती हैं। दोनों के चरित्र का यह पक्ष ही उन्हें परंपरागत छवि में प्रस्तुत करता है और जीवन में प्रेमपथ पर निराशा मिलने पर भी जीवन को एक नई दृष्टि से देखना, जिसमें चाहे मल्लिका का विलोम से शादी कर घर बसाना हो या प्रभावती का अपने पुत्र द्वारा पूछे गए सवालों का बेहिचक जवाब देना। ये विभिन्न पक्ष ही दोनों के चरित्र में परंपरा और आधुनिकता को चित्रित करते हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' की अम्बिका भी प्रतीक है उन तमाम आधुनिक स्त्रियों की जो जीवन को कल्पना या भावना के स्तर पर नहीं जीती हैं, बल्कि वास्तविकता के धरातल पर रहते हुए जीवन जीती हैं। वह एक ऐसी स्त्री है जो व्यावहारिक है जो भावना के स्थान पर कर्म को महत्त्व देती है। अपनी पुत्री मल्लिका के भविष्य को लेकर चिंतित है। वह अपनी पुत्री मल्लिका और कालिदास के संबंध को लेकर भावनात्मक होकर नहीं सोचती है, बल्कि एक आधुनिक स्त्री के समान व्यावहारिक धरातल पर रहकर सोचती है कि कालिदास के साथ उसकी पुत्री का भविष्य कितना सुरक्षित है। कालिदास अपने जीवन में कवि कर्म के समानांतर क्या अपने प्रेम संबंध को वह अधिकार और स्थान दे पाएगा ? ऐसे तमाम सवाल वह अक्सर मल्लिका के आगे रखती है। और उन सवालों के प्रति जब कालिदास के द्वंद्व और संशयग्रस्त जीवन को देखती है तो वह उग्र हो जाती है और नाटक में अक्सर मल्लिका से इस संबंध में तीखे सवाल करती है, "इसलिए वह समझ पाती है कि मल्लिका कालिदास के लिए सिर्फ एक उपादान है, जिसके माध्यम से कालिदास स्वयं से प्रेम करता है। मान-मर्यादा, लोक-अपवाद, लोक-नीति जैसे सामाजिक व्यवहार अम्बिका की जीवनदृष्टि को बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अम्बिका जीवनपर्यंत मल्लिका को कालिदास के प्रभाव से बचाने की चेष्टा करती है। इस प्रयत्न में कई बार उसने तीखे व्यंग्य, अशोभनीय व्यवहार एवं आरोप-प्रत्यारोपों का भी सहारा लिया।"[22] इस प्रकार अम्बिका का चरित्र प्रतीक है, एक आधुनिक स्त्री का जो भावना के स्तर पर जीवन का निर्णय न लेकर व्यवहारिक स्तर पर निर्णय लेती है। अम्बिका के चरित्र की तुलना 'सेतुबंध' की स्त्री पात्र प्रभावती से भी की जा सकती है। अम्बिका के समान प्रभावती के चरित्र में भी आधुनिक स्त्री का रूप देखा जा सकता है। 'आषाढ़ का एक दिन' की

'अम्बिका' के समान वह भी सत्य से मुख नहीं मोड़ती है। प्रभावती जिस प्रकार विवाह से पूर्व कालिदास से अपने प्रेम संबंध को पुत्र प्रवरसेन के आगे दृढ़ता से स्वीकार करती है उसे अपने जीवन का पूरा वृत्तांत पूरी ईमानदारी से सुना देती है। वह एक आधुनिक स्त्री के समान ही अपने जीवन की कड़वी सच्चाई से मुख नहीं मोड़ती है। पुत्र प्रवरसेन को कह सुनाती है और उम्मीद करती है कि पुत्र होने के नाते वह भी अपनी माता को समझेगा। प्रभावती कहती है, "एक औसत पुत्र की तरह व्यवहार मत करो। मुझसे मेरा स्वप्न मत छीनो।...मुझे विश्वास था कि तुम मुझे समझोगे।"[23] इस प्रकार अम्बिका और प्रभावती का चरित्र प्रतीक है एक आधुनिक स्त्री का, जो आज व्यावहारिक धरातल पर अपने जीवन को जीना पसंद करती है। आज संबंधों को लेकर उनकी सोच भावनात्मक स्तर पर नहीं होती है, बल्कि किसी भी संबंध के विभिन्न पक्षों को देखती है। अम्बिका और प्रभावती दोनों के जीवन की परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं, किन्तु दोनों जीवन के सत्य को कहने में झिझकती नहीं हैं। उसे कह देती हैं। जो कटु अवश्य होता है, लेकिन जीवन का वह व्यावहारिक सच होता है।

'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास की पत्नी 'प्रियंगुमंजरी' और आठवां सर्ग' के कालिदास की पत्नी 'प्रियंगुमंजरी' की तुलना करें तो दोनों के चरित्र में भिन्नता है। 'आषाढ़ का एक दिन' की प्रियंगु आधुनिक पात्र चरित्र है और 'आठवां सर्ग' की प्रियंगु परंपरावादी है। मोहन राकेश के यहाँ प्रियंगु आधुनिक मानव की तरह भौतिकतावादी है, सत्ता और धन के बल पर खुशियों को हासिल करना चाहती है। वह अपने पति कालिदास के लिए खुशियाँ खरीदना चाहती है। तभी वह कालिदास के ग्राम प्रांत के वातावरण को उज्जयिनी ले जाना चाहती है। वह मल्लिका के घर का परिसंस्कार कर कालिदास को खुश करना और उसे उज्जयिनी में ही मल्लिका के प्रति आश्वस्त कर देना चाहती है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रियंगु एक आधुनिक मनुष्य का प्रतीकात्मक पात्र है, जो अपनी धन-संपदा से जीवन की खुशियों को खरीद लेना चाहती है। आभा गुप्ता ठाकुर 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के ऊपर अपने एक लेख 'स्त्री परिपेक्ष्य में' लिखती हैं, "मल्लिका के सौंदर्य को लेकर स्पर्धा भाव और ग्राम्य प्रांतर के वातावरण को अपने साथ उज्जयिनी ले जाने की हठ, उसके वैवाहिक

जीवन के रहस्यों को उद्घाटित करता है। वह ऐसा समझती है कि शायद यहाँ का वातावरण ले जाने से कालिदास की उदासीनता और बेचैनी कम हो जायेगी। मल्लिका के घर का परिसंस्कार वह अपने 'घर' को बचाने के लिए करना चाहती है। कालिदास के ऊपर अपने अधिकार को बनाये रखने के लिए ही वह मल्लिका से उज्जयिनी के किसी राजकर्मचारी से विवाह कर लेने की हठ करती है।"[24] इस दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन'की 'प्रियंगु' एक आधुनिक नारी पात्र-चरित्र है, जो प्रेम को पैसे और धन से तौलती है और प्रेम भावना का मूल्य भौतिक वस्तु से चुकाना चाहती है। वहीं 'आठवां सर्ग' की 'प्रियंगु' एक परम्परवादी भारतीय स्त्री है, जो अपने पति कालिदास के प्रति समर्पित है। जो कालिदास के सुख में सम्मलित है और उसके दुःख में दुखी होती है। एक मध्यकालीन नारी के समान वह लज्जाशील पत्नी है। राजसभा में 'आठवाँ सर्ग' के पाठ होने के अवसर पर वह लज्जावश सभा नहीं जाती है, क्योंकि 'आठवां सर्ग' में शिव-पार्वती के मिलन का वर्णन होता है। इसके अतिरिक्त सम्मान समारोह स्थगित होने पर वह कालिदास के समान दुखी होती है। कालिदास के भवन नहीं लौटने पर चिंतित होती है। प्रियंगु के सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, "उनकी प्रियंगु भी सहृदय, संवेदनशील, भारतीय सौंदर्य, संस्कृति-शील, धैर्य, सहनशीलता, प्रेम, वेदना से भरपूर है। अस्तित्व-संकट और अस्तित्व-प्रतिष्ठा, प्रणय-श्रृंगार, आनंद-रस के साथ-साथ सघन-अंतर्द्वंद, जटिल वेदना में भी वह कालिदास के साथ है। विदुषी है इसीलिए कालिदास को, समाज, धर्म, राजनीति के गठबंधन को समझती है, उसके माध्यम से ही सुरेन्द्र वर्मा ने मानो अश्लीलता के स्थूल, असत्य प्रश्न का रचनात्मक अर्थ स्वयं संप्रेषित कर दिया है।"[25] इस प्रकार दोनों ही नाटकों में कालिदास की पत्नी का नाम प्रियंगुमंजरी होता है, लेकिन दोनों का चरित्र अपने-अपने परिवेश में भिन्न है। एक आधुनिक नारी का प्रतीकात्मक पात्र है, जो भावना और त्याग का मूल्यांकन पैसों से करती है और उन पैसों से ही अपने सुखों को चिर-स्थाई बनाने के लिए प्रयासरत रहती है। वहीं दूसरी ओर 'आठवां सर्ग' की प्रियंगु एक भारतीय परम्परवादी स्त्री पात्र है। भारतीय नारी जो लज्जाशील है। पति के सुख दुःख की साथी है तथा एक ऐसी परम्परवादी नारी है जो समाज में

स्थापित अन्धविश्वासी भी है। जीवन और स्वप्न के बीच के संबंधों को मानती है। स्वप्न में देखी गई घटनाओं को किसी भविष्य सूचक के रूप में देखती है। जैसा कि भारत ही नहीं दुनिया के तमाम लोक जीवन से जुड़ी मान्यताओं में देखा जाता है। अतः 'आठवां सर्ग' की प्रियंगु को परंपरावादी स्त्री कहें तो गलत नहीं होगा।

5.3 'लहरों के राजहंस' और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'

ऐतिहासिक, मिथकीय पौराणिक कथानक के माध्यम से आधुनिक संदर्भो को मोहन राकेश का एक और नाटक प्रस्तुत करता है और वह है, 'लहरों के राजहंस' इसी प्रकार सुरेन्द्र वर्मा का नाटक है, 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'। दोनों ही नाटकों के कथानकों पर दृष्टि डालें तो हम देखते हैं कि ये दोनों नाटक भी अपने मिथकीय ऐतिहासिक कलेवर में परंपरा और आधुनिकता के संवाहक हैं। सर्वप्रथम दोनों ही नाटकों की कथा के केंद्र में एक राज परिवार है। दोनों ही नाटकों की समस्या दाम्पत्य जीवन से जुड़ी हुई है। साथ ही दोनों ही नाटकों वैवाहिक जीवन में तनाव, कटुता और दोषारोपण पर आधारित हैं। 'लहरों के राजहंस' में नन्द अपनी अस्मिता की तलाश में द्वंद्वों में घिरा हुआ उलझा एवं टूटता-बिखरता रहता है। यह एक दुविधाग्रस्त इंसान की कथा है। एक दम्पति जिसमें एक-दूसरे को अपनी बात समझा नहीं पाने की असमर्थता है। एक अहं, जो रिश्ते से बढ़कर है। जिसकी रक्षा करने के लिए सुन्दरी हर एक प्रयास करती है। उसके पश्चात् भी विफल हो जाती है। 'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुंदरी का संघर्ष आंतरिक हैं। नन्द अपने जीवन के लिए सही मार्ग का चुनाव करने हेतु द्वंद्व में फंसा होता है। उसका दुविधाग्रस्त मन यह तय करने में असमर्थ रहता है कि वह अपने भाई बुद्ध के समान बौद्ध भिक्षु बनना चाहता है या सुंदरी की सुन्दरता के मोह-पाश में बंध कर भौतिक सुखों को ही भोगना चाहता है। नन्द की दशा देख कर नन्द के अन्दर के चल रहे द्वंद्व को समझा जा सकता है, "दूसरी ओर नेपथ्य से 'धम्मं शरणं गच्छामि' का समवेत स्वर नन्द के हाथ में हिलते हुए और फिर गिरकर टूटते हुए दर्पण द्वारा नन्द के सारे अंतर्द्वंद्व को बड़ी सफलता से मूर्त कर देता है तीसरे अंक में नन्द लौटता तो है लेकिन क्षत-विक्षत, केश कटाए हुए।

सुंदरी का समस्त विश्वास और प्रयत्न यहाँ बिखर जाता है। विश्वास दोनों का खंडित होता है। नन्द स्तब्ध और आहत भाव से जाता है तो सुंदरी सिसकती रह जाती है अपने खंडित विश्वास और भाव के साथ।"[26] इस प्रकार न गौतम बुद्ध द्वारा दिखाए गए मार्ग के प्रति नन्द खुद को आश्वस्त कर पाता है और सुंदरी के रूप-सौंदर्य में बंधकर खुद को रख पाता है। इधर सुंदरी भी अपने डर और अहं को जीत नहीं पाती है। नन्द को सुंदरी अपने तमाम प्रयास के बाद भी अंततः एक भिक्षु के रूप में खड़ी पाती है। जो डर उसके मन को बार-बार सताता रहता है वह आखिर सत्य हो जाता है। अतः नन्द और सुंदरी दोनों ही अपने-अपने स्तर पर आंतरिक रूप से संघर्षरत रहते हैं। इस प्रकार एक ऐतिहासिक चरित्र और पौराणिक आख्यान के माध्यम से ऐसा प्रतीत होता जैसे मोहन राकेश आधुनिक मुनष्य की कथा ही प्रतीकात्मक ढंग से कह रहे हों। नन्द प्रतीक है उस आधुनिक मानव का जो आज द्वंद्व में घिरा हुआ है। इस आधुनिक यांत्रिक और भौतिकवादी दुनिया में जीवन के सारे सुखों को भोगना भी चाहता है और उससे निकलकर शान्ति या मुक्ति का मार्ग भी तलाशता रहता है। लेकिन सवाल उठता है कि कितने लोग अपने जीवन में अपने द्वंद्वों से निकलकर अपने लिए सही मार्ग तलाश कर पाते हैं ? या वे भी नन्द के समान सुंदरी और बुद्ध के बीच फंसकर द्वंद्वात्मक हालातों में ही घिरे रह जाते हैं। अतः ऐतिहासिक चरित्र और पौराणिक आख्यान के माध्यम से आधुनिक जटिल मानवीय जीवन और उसके आंतरिक संघर्ष को चित्रित करने में मोहन राकेश का यह एक सफल नाटक है। ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

वहीं सुरेन्द्र वर्मा का नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में 'ओक्काक' और 'शीलवती' का दांपत्य-संघर्ष आंतरिक न होकर बाह्य है। उनकी जरूरत भौतिक है। 'ओक्काक' अपनी अस्मिता अपना पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए शीलवती से विवाह करता है, ताकि उसकी नपुंसकता खत्म हो जाए। शीलवती को एक औषधि के समान प्रयोग करता है। ओक्काक और शीलवती के बीच आरोप-प्रतिरोप में ओक्काक के मनोभाव को समझा जा सकता है। जिसमें

शीलवती अपनी परंपरावादी आदर्श भारतीय स्त्री की छवि से निकलकर एक आधुनिक स्त्री के समान अपनी इच्छाओं, अपनी आवश्यकताओं को प्रकट करती है। दोनों के बीच का संवाद द्रष्टव्य है,

"ओक्काक : तुम यहाँ तक जा सकती हो ? अपने स्वार्थ के लिए।

शीलवती : और तुम कितने परमार्थी हो, जो बिना सामर्थ्य के ब्याह के जैसा जघन्य पाप कर सकते हो ? राजवैध ने कहा था कि जब कामना की पूरी ऊष्मा के साथ पत्नी तुम्हारी आह्वान करेगी, तो उस मनोवैज्ञानिक क्षण में अपने आप यानी मैं तुम्हारे लिए केवल जड़ी-बूटी थी ? केवल एक उपचार? तुमने ये नहीं सोचा कि अगर यह चिकित्सा बेकार गयी, तो इस जीवंत औषधि पर क्या बीतेगी ?"[27] इस प्रकार एक तरफ ओक्काक को अस्मिता के लिए संघर्ष करते देखा जा सकता है। जहाँ एक स्त्री उसके लिए एक औषधि, एक दवा के समान होती है। शीलवती का वरन वह एक पत्नी नहीं, बल्कि एक औषधि के समान करता है। दोनों का तनावपूर्ण दाम्पत्य जीवन आज के आधुनिक दंपतियों का प्रतीक है। जिसमें नाटक की शीलवती के समान आज की स्त्री अपने भौतिक सुखों की तलाश में अपने वैवाहिक बन्धनों से बंधकर नहीं रहना चाहती है। वह भी अपनी स्त्री-अस्मिता और अधिकार के प्रति सचेत है। इस प्रकार आज के आधुनिक वैवाहिक जीवन को और उनके द्वंद्वों, तनावों और बिखरावों को चित्रित करने में 'लहरों के राजहंस' की तरह यह भी एक सफल नाटक है। दोनों के द्वंद्वों में मूलभूत अन्तर इतना है कि 'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुंदरी का द्वंद्व, तनाव, मानसिक और मनोवैज्ञानिक पार्थिव और अपार्थिव संदर्भों में है। वहीं ओक्काक और शीलवती का द्वंद्व और टकराहट उनके मनोविज्ञान को उद्घाटित तो अवश्य करता है, किन्तु पार्थिव जरूरतों के संदर्भों में है। गिरीश रस्तोगी इस सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'हिंदी नाटकों का आत्मसंघर्ष' में लिखती हैं, "ओक्काक का द्वंद्व-यात्रा से गुजरते जाना उसके बड़े-बड़े संवादों से वैसे ही उच्छ्वसित होता जाता है जैसे 'लहरों के राजहंस' के नन्द का सारा अंतर्द्वंद्व और अस्तित्व सम्बन्धी जटिल मानसिकता।"[28]

'लहरों के राजहंस' और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' के पात्रों और उनके चरित्रों का अध्ययन करने पर उनमें परंपरागत चरित्र और आधुनिक मनुष्य के चरित्र दोनों ही देखे जा सकते हैं। सर्वप्रथम दोनों ही नाटकों के पुरुष पात्रों को देखें तो दोनों ही नाटकों के मुख्य पुरुष पात्र एक राजवंश से संबंध रखते हैं। एक ओर देखें तो 'लहरों के राजहंस' का नन्द है, तो दूसरी ओर 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में मल्ल देश का राजा ओक्काक। सर्वप्रथम नन्द की बात करें तो नाटक में नन्द एक ऐसा पात्र है जिसका संघर्ष किसी बाह्य शत्रु से न होकर खुद के द्वंद्व से है। नन्द अपने जीवन में पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों को तय करने में द्वंद्वों से घिरा रहता है। जहाँ एक ओर पार्थिव सुंदरी के रूप-सौंदर्य और उसके आकर्षण से वह बंधा रहता है। वहीं बुद्ध का अपार्थिव जीवन मूल्य और निर्वाण-मार्ग भी बार-बार उसे आकर्षित करता है। नन्द आधुनिक मनुष्य का प्रतीक है। जैसे आज का आधुनिक मानव पार्थिव और अपार्थिव जीवन-मूल्यों के बीच उलझा हुआ है। वैसे ही नन्द भी उलझा हुआ है, "'लहरों के राजहंस' में नन्द के माध्यम से, आधुनिक मनुष्य के भीतर उठने वाले पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों के संघर्ष को रूपायित किया गया है। नन्द सांसारिक सुखों को सम्पूर्ण मन से भोग नहीं पाता एवं उसके चरित्र का सर्वदुखांत पक्ष यह है कि आध्यात्मिकता के प्रति उसका विश्वास स्फूर्त नहीं है।"[29] नन्द के चरित्र की तुलना ओक्काक के चरित्र से करें तो ओक्काक भी नन्द के समान मनोवैज्ञानिक धरातल पर भी संघर्षरत तो है ही, साथ ही वह बाह्य रूप से भी संघर्षरत है। सर्वप्रथम अपनी पुरुषत्वहीनता से वह संघर्ष करता हुआ शीलवती से विवाह करता है, इस आशा से कि शायद पत्नी विवाह के पश्चात् एक औषधि के समान कार्य करेगी, किन्तु यह प्रयोग असफल होता और वह पुरुषत्वहीन ही रह जाता है। शीलवती से विवाह का उसका उद्देश्य अपनी नपुंसकता दूर करना मात्र होता है। अपनी पत्नी का वरण एक औषधि के समान करना, उसे एक रूढ़ि परंपरावादी पुरुष मानसिकता का साबित करता है, "पत्नी से अच्छा उपचार मेरे लिए दूसरा नहीं हो सकता...वह संगनी बनकर अकेलापन दूर करेगी, मित्र बनकर कामकाज में सम्मलित होगी...माँ की ममता, बहन का स्नेह, प्रेयसी का प्रेम हर कमी दूर

होगी, सारे अभाव पूरे होंगे...खोया हुआ आत्मविश्वास मिलेगा..और जब शैया पर पहुँचेंगे, वह घड़ी आयेगी, जब कामना की पूरी ऊष्मा के साथ नारीत्व पुरुषत्व का आह्वान करेगा, तो उस मनोवैज्ञानिक क्षण में अपने आप ही.."[30] इसके पश्चात् भी राज का उत्तराधिकारी न दे पाने पर राज का अमात्य परिषद् शीलवती को धर्मनटी बनने को कहता है। जिसका अर्थ होता है कि शीलवती अपनी इच्छा से किसी भी एक पर-पुरुष का वरण करेगी और गर्भसिद्धि के लिए उसे तीन मौके दिए जाएँगे। अमात्य-परिषद् के इस फैसले से ओक्काक प्रथमतः तो अपनी स्वीकृति नहीं देता, लेकिन अमात्य-परिषद् राज्य के तमाम नियमों और तर्कों से उसे विवश कर देता है कि वह शीलवती को धर्मनटी बनने की स्वीकृति दे देता है,

"महामात्य : (राजपुरोहित से) आर्य बोलिये !

राजपुरोहित : (ओक्काक से) कहिये..मैं (शीलवती की ओर संकेत-सहित) आपको आज की रात के लिए-सूर्य की अंतिम किरण से लेकर पहली किरण तक, उपपति चुनने का अधिकार देता हूँ।"[31] इस रूप में ओक्काक एक विवश और लाचार शासक साबित होता है। जो दो धर्मों के बीच द्वंद्व में फंसकर रह जाता है। एक उसका राज्य के प्रति धर्म कि वह उसे उत्तराधिकारी दे। दूसरा उसका पतिधर्म जिसके तहत वह अपनी पत्नी के सम्मान और स्त्रीत्व की रक्षा करे। किन्तु इस संदर्भों में ओक्काक, नन्द और 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास के समान ही एक कामजोर चरित्र साबित होता है। जो द्वंद्वों से घिरा हुआ निर्णय लेने में असमर्थ पात्र चरित्र साबित होता है। जो अपने ही हालात और परिस्थितयों में उलझकर अपनी अस्मिता की तलाश करते हुए संघर्षरत रहता है। साथ ही एक ऐसे शासक का भी प्रतीक है, जिसकी खुद की सत्ता पर पकड़ नहीं है। उसके नौकरशाह उसकी ही जिन्दगी को नियमों और क़ानून में उलझाकर उसकी ज़िंदगी की मुसीबतों को और बढ़ा देते हैं।

दोनों ही नाटकों के स्त्री पात्रों को देखें तो 'लहरों के राजहंस' की मुख्य स्त्री पात्र है 'सुंदरी' और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' की मुख्य स्त्री पात्र है 'शीलवती'। सर्वप्रथम सुंदरी की बात करें तो सुंदरी एक अत्यंत रूपवान राजकन्या है। जिसे अपनी सुंदरता का अभिमान है और उसका यह तर्क है कि नारी का आकर्षण ही किसी पुरुष को पुरुष बनाता है अर्थात् किसी स्त्री की सुंदरता का महत्त्व इसमें है कि वह पुरुष को अपने सौंदर्य-पाश में बांधकर रखे और पुरुष की सार्थकता इसी में है कि वह स्त्री के रूप सौंदर्य में ही बंधकर रहे। अन्यथा वह बुद्ध के समान यशोधरा के अपकर्षण से भिक्षु ही बन जाता है। सुंदरी यहाँ प्रतीक है, आज के तमाम उन आधुनिक मानवों का जो शरीर के माध्यम से जीते हैं। जीवन में बुद्ध के निर्वाण जैसे अपार्थिव जीवन मूल्यों की तुलना में इस भौतिक पार्थिव शरीर को अधिक महत्त्व देते हैं, "स्वाभिमान उसके हाव-भाव, गतियों में ही नहीं उसके कथनों में भी है। वह सोच ही नहीं पाती कि 'भरा पूरा यौवन और हृदय में धूल भरा आकाश' इनमें मेल ही क्या है ? वह यह भी समझ नहीं पाती कि कामनाओं को जीता कैसे जा सकता है ? और यह कामना किसी के मन में जागती ही क्यों है ? राजहंसों के जोड़ों की किलोल के आगे उसे गौतम बुद्ध का निर्वाण और अमरत्व सारहीन, निरर्थक लगता है।"[32] दूसरी ओर 'सुंदरी' की तुलना 'शीलवती से करें तो नाटक के प्रथम अंक तक शीलवती एक परम्परवादी स्त्री दिखती है। जो ओक्काक की अर्धांगिनी होने का पूरा धर्म निभाती है। यह जानते हुए भी कि उसका पति पुरुषत्वहीन है तब भी उसे अपनी ज़िंदगी से बहुत निराशा नहीं होती है। अमात्य-परिषद् और पति ओक्काक द्वारा धर्मनटी बनने को कहने पर वह अपनी पत्नी और स्त्री की मर्यादा जैसे तमाम आधारों को सामने रखकर ओक्काक से तर्क करती है। किन्तु अंततः वह धर्मनटी बनना स्वीकार कर लेती है। लेकिन लज्जावश वह ओक्काक के समक्ष कई दिनों तक नहीं आती है क्योंकि शीलवती के संस्कार-चरित्र में एक भारतीय परम्परवादी स्त्री होती है। जिसके लिए पर-पुरुष को शारीरिक रूप से खुद को सौंपना एक बहुत बड़ी बात होती है,

"ओक्काक : हाँ... तभी एक सप्ताह से तुम्हारे दर्शन भी नहीं हुए। जिस दिन से घोषणा प्रारंभ हुई थी, ठीक उसी दिन से! शीलवती: (करुण स्वर में) मैं तुम्हारे सामने कैसे आ सकती थी ? मुझे अपने आप को तैयार करना था... सारे संस्कारों के जाल छिन्न-भिन्न करके, मूल्यों और मर्यादाओं को तोड़कर, अपना पूरा मनोबल इकट्ठा करके मुझे आज की इस घड़ी तक पहुँचना था, उसके लिए दूरी आवश्यक थी, अनिवार्य थी।"[33]

इस प्रकार नाटक के प्रथम अंक में शीलवती एक परंपरावादी नारी ही प्रतीत हुई है जो अपनी स्त्री और पत्नी मर्यादा का पूरी निष्ठा से पालन करती है। किन्तु नाटक के दूसरे और तीसरे अंक में मानो शीलवती जो प्रथम अंक तक अपने जीवन का आखरी लक्ष्य पत्नीधर्म का पालन करने को मानती है और अपने व्यक्तिगत सुखों को मानो वह पूर्णतः विस्मृत कर चुकी रहती है। किन्तु आर्य प्रतोष के साथ रात की एक बेला में मिले उन क्षणों का सुख शीलवती के चरित्र को परिवर्तित कर देता है। वह आधुनिक स्त्री के समान अपने अधिकार के प्रति सजग ही नहीं हो जाती है, बल्कि बेझिझक अपने निजी जीवन की शारीरिक जरूरतों के सन्दर्भ में अपने पति ओक्काक से तर्क करती है और कहती है कि शरीर के माध्यम से जीती है तो शरीर की आवश्यकताओं को कैसे नकारा सकती है। अतः आर्य प्रतोष के साथ एक रात व्यतीत करने के बाद अमात्य परिषद् द्वारा दिए तीनों अवसरों को लेकर तर्क करती है। वह आर्य प्रतोष के साथ जीवन के उन्हीं पलों को सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक पुनः दोहराना चाहती है। डॉ. नीलम राठी इस सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में)' लिखती हैं, "शीलवती का यह चिंतन वास्तव में मानसिक असंतुलन का ही परिणाम है। क्योंकि भौतिक जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ने के कारण एक स्थान पर रुककर स्थायित्व पाना मानव जीवन में असंभव सा रह गया है। इन समस्त सुखों की आकांक्षा उसके लिए मृगमरीचिका बन चुकी है।"[34]

निष्कर्षतः सुंदरी और शीलवती के पात्र-चरित्र के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि सुंदरी जहाँ अपने रूप-सौंदर्य के अहं को अपनी प्रतिष्ठा और अस्मिता का प्रश्न बना लेती है वहीं अपने दुखों का

कारण वह खुद ही साबित होती है। वह अप्रत्यक्ष रूप से अपने अंदर के व्यक्तित्व से ही लड़ती रहती है। नन्द को अपने रूप सौंदर्य में बांधे रखना और उसे भिक्षु न बनने देना, उसके आंतरिक व्यक्तित्व की ही जीत हो सकती थी। इस रूप में सुंदरी का यह व्यक्तित्व एक आधुनिक स्त्री का चरित्र प्रतीत होता है। जिस प्रकार आज का मनुष्य जीवन के उलझे अनगिनत प्रश्नों के साथ जी रहा है। जहाँ सुख-शान्ति नहीं होती है। मनुष्य अपने अस्तित्व और अपने अहं को खुद पर लादे सुंदरी के समान बेचैनी में जी रहा है। अतः नाटक में सुंदरी अपने ही अहं से उत्पन्न प्रश्नों में घिरी आधुनिक मानव चरित्र को संबोधित करती है। वहीं शीलवती के चरित्र में प्रथम अंक तक में एक परंपरावादी स्त्री की ही छवि उभरकर सामने आती है। किन्तु दूसरे और तीसरे अंक में उसका चरित्र पूर्णतः आधुनिक प्रतीत होने लगता है। परंपरा और आधुनिकता दोनों ही उसके चरित्र में देखे जा सकते हैं, "नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, इस प्रकार की प्रतिक्रिया उसमें उत्पन्न होती है। मातृत्व केवल गौण उत्पादन-क्रिया है, यह शाकुंतल मन की जिज्ञासा है अर्थात् परंपरा और आधुनिकता एक-दूसरे के सम्मुख प्रतिस्पर्धा रूप में उपस्थित है। राजमहिषी शीलवती की अपनी अपूर्णता की पूरकता की प्राप्ति के लिए जिस मार्ग का अनुसरण करती है, वह भी एक दुखांत स्थिति है। अतः यह प्रश्न केवल ओक्काक और शीलवती के प्रश्न न होकर सर्वकालिक जीवन-बोध से संपृक्त जटिल प्रश्न हैं। राजकीय परंपरा के सन्दर्भ में उत्तराधिकार के प्रश्न को नाटक के कथ्य का आधार बनाया है और इस कृति की रचना-प्रक्रिया को आधुनिकता के साथ जोड़ा है।"[35]

आधुनिकता ने अधूरेपन की धारणा को वक्त के साथ जन्म दिया है। एक ऐसा काल था जब विज्ञान और धर्म पर आस्था रखने वाले अलग-अलग लोग मनुष्य की पूर्णता के प्रति बहुत अधिक संदेहास्पद स्थिति में नहीं होते थे। मनुष्य की पूर्णता की संभावनाओं के प्रति एक हद तक आश्वस्त होते थे। लेकिन उस वक्त महामानव की धारणा थी, जैसे प्राचीनकाल में अवतारी पुरुष या आधुनिक काल में कहलाने वाले युग पुरुष होते थे। इनको ही आदर्श मानकर समाज उनके चरित्र का अनुसरण करने का प्रयत्न करता था। किन्तु दो महायुद्धों के पश्चात् ये आदर्श चरित्र समाज से धुंधले होते चले

गए। आशावादी स्वर मंद होते चले गए। महामानव की कल्पना अब करना दूर की बात होती चली गई । लोग धीरे-धीरे लघु और अपूर्णता की ओर बढ़ने लगे। इसका मुख्य कारण था यांत्रिकता का दुनिया में तेजी से बढ़ना तथा पूंजीवादी-व्यवस्था केन्द्रित समाज का निर्माण। इस पूंजीवादी व्यवस्था ने धीरे-धीरे आधुनिक परिवारों को यांत्रिक बना दिया, ख़ासकर बड़े शहरों में रहने वाले परिवारों के लोगों को, वे आज लाभ और हानि की दृष्टि से अपने रिश्ते का मूल्यांकन और महत्त्व तय करते हैं। धीरे-धीरे ही यह व्यवस्था समाज और परिवार में एक प्रकार से लोगों को असहाय, अधूरा, लाचार आदि बनाने लगी। जिससे उसकी ज़िंदगी में एक अधूरापन आने लगा। वे खुद को टूटा हुआ और खंडित महसूस करने लगे हैं। अतः धीरे-धीरे आधुनिक काल का अधूरापन आज के आधुनिक मानव का सच बन चुका है।

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा, स्वातंत्र्योत्तर ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने अपने नाटकों में आधुनिक मानव के इस अधूरेपन को कुछेक नाटकों में पौराणिक मिथकीय कथा और ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से चित्रित किया है, तो कुछेक नाटकों में सीधे आधुनिक चरित्रों के माध्यम से खंडित आधुनिक मानव के व्यक्तित्व को व्याख्यायित कर दिया है।

'आधे-अधूरे' मोहन राकेश का तीसरा नाटक है। आधुनिक जीवन के द्वंद्वों, अधूरेपन और जीवन की आंतरिक व्याकुलता आदि को चित्रित करने के लिए यह नाटक पूर्व के दो नाटकों के समान ऐतिहासिक चरित्र और मिथकीय पौराणिक कथानक का आश्रय नहीं लेता है। 'आधे-अधूरे' सीधे-सीधे आज के आधुनिक मानव के कठोर यथार्थ को प्रस्तुत करता है। जिसमें भाषा भी बिल्कुल आम-बोलचाल की है। लेकिन इसके पश्चात भी इस नाटक के रचना सौंदर्य की अपनी ही विशिष्टता है। मोहन राकेश के परिपाटी की ही नाटककार के रूप में जैसा कि सुरेन्द्र वर्मा को भी जाना जाता है, इस सन्दर्भ में सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी', 'एक दूनी एक' और 'शकुन्तला की अंगूठी' नाटक भी 'आधे-अधूरे' के ही समान आधुनिक मानव-जीवन की भोगवादी जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत करता है। जिसमें बनते-बिखरते रिश्ते हैं। उन रिश्तों से निकलने न निकलने का ऊहापोह और द्वंद्वों में उलझा

हुआ यांत्रिक जीवन है। जिसे सुरेन्द्र वर्मा ने भी मोहन राकेश के समान, बड़ी बेबाकी से प्रस्तुत किया है। आधुनिक जीवन के इस कटु सत्य को नाटक के माध्यम से हम लोगों तक पहुँचाया है।

मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' की तुलना सुरेन्द्र वर्मा के इन तीन नाटकों से करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यवर्गीय परिवार के त्रासद भरे जीवन की जिस कथा को कहने की परंपरा मोहन राकेश ने किया था, उसी कथा-परंपरा को ही सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में भिन्न कथानक और भिन्न परिस्थितियों के माध्यम से, किन्तु उसी समान भाव से प्रस्तुत किया है। 'आधे-अधूरे' में महेन्द्रनाथ और सावित्री के मध्यवर्गीय परिवार को केंद्र में रखकर आज के मध्यवर्गीय पारिवारिक विघटन को चित्रित किया गया है। वहीं 'द्रौपदी' में 'सुरेखा' और 'मनमोहन', 'एक दूनी एक' में 'आदमी' और 'औरत', और 'शकुन्तला की अंगूठी' में 'कुमार' और 'कनक' जो उच्च-मध्यवर्गीय परिवार से संबंध रखते हैं, उनके बीच के संबंधों का विघटन प्रस्तुत किया गया है। किन्तु जिस पारिवारिक विघटन से वे गुजर रहे हैं वे आज के उत्तर-आधुनिक हालात हैं, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। जहाँ अधूरे रिश्त पहले से अधिक बिखरते जा रहे हैं, वे एक-दूसरे से अलग होते जा रहे हैं। सारी विकट परिस्थितियाँ और भी गहरा गई हैं। मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' और सुरेन्द्र वर्मा के 'द्रौपदी' नाटक में जो मुख्य केंद्रीय विषय है, वह है एक घर की खोज। 'आधे-अधूरे' में घर की खोज में ही सावित्री और महेन्द्रनाथ अपना घर बसाते हैं। ठीक उसी प्रकार एक घर के ही स्वप्न को लेकर 'द्रौपदी' में सुरेखा और मनमोहन अपना घर बसाते हैं। किन्तु वक्त के साथ न सावित्री-महेन्द्रनाथ का घर, घर के मूल अर्थ को चरितार्थ कर पाता है और न सुरेखा-मनमोहन का घर ही। घर-परिवार की नींव जिस पर टिके रहते हैं जैसे- प्रेम, विश्वास, लगाव, स्नेह, आदि वह दोनों ही घर से लगभग नदारत ही रहते हैं। 'आधे-अधूरे' के सन्दर्भ में कुसुम खेमानी अपनी पुस्तक 'हिंदी नाटक के पाँच दशक में लिखती हैं, " महेन्द्रनाथ और सावित्री की कथा के माध्यम से हम देखते हैं कि अधूरेपन को भरने के लिए मनुष्य अपना घर बसाता है, किन्तु 'अधूरेपन' की छाया का विस्तार ही इस परिवार की नियति बन जाती है। सावित्री परिवार के अधूरेपन को भरने के लिए भटकती है, इसी प्रक्रिया में

वह सिंघानिया, जुनेजा, मनोज, जगमोहन, इन सबके प्रति आसक्त होती है। परंतु 'अधूरापन' उसे हर जगह मिलता है। चेहरा एक है, मुखौटा अलग-अलग। इस प्रकार समकालीन जीवन के कुछ सघन बिन्दुओं को यह नाटक रेखांकित करता है।"[36] नाटक के कथानक में आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन का संत्रास हर ओर बिखरा हुआ प्रतीत होता है। सभी पात्रों के लिए संत्रास मानो अनिवार्य नियति ही बन जाता है। जीवन की जरूरतें अर्थ से पूरी होती हैं। यदि घर के आर्थिक हालात कमजोर हों तो आर्थिक कमजोरी उस परिवार को तोड़कर रख देती है। नाटक में महेन्द्रनाथ का घर भी इसी विपन्नता से गुजरता रहता है। घर में बेरोजगार बैठा महेन्द्रनाथ घर की जरूरतों को पूरा नहीं करता और सावित्री किसी तरह इस दायित्व का निर्वाह करती है। जिसके कारण घर की जरूरतें अधूरी हैं। यह अधूरेपन का भाव बिखराव की स्थिति पैदा करता है। अंततः यह बिखराव परिवार को एक संगठन के रूप में नहीं बनने देता है। महेन्द्रनाथ घर का मुखिया होने पर भी घर को इस विपरीत स्थिति से नहीं निकाल पाता है। स्वयं भी घर में औरों के लिए अजनबी के समान रहता है। इसी अजनबीपन और अधूरेपन से बाहर निकलने के लिए वह बार-बार घर छोड़ता है और कहीं ठिकाना नहीं मिलने पर घर वापस आ जाता है। सावित्री को निठल्ला और दायित्वविहीन पति अधूरा लगता है। इसीलिए रिश्ते के इस अधूरेपन से गुजरते हुए वह कई पुरुषों के संपर्क में आती है, किन्तु पूर्णता किसी भी पुरुष में नहीं पाती है। घर की बड़ी बेटी बिन्नी इससे ऊबकर अपने घर को छोड़ अपनी माँ के पूर्व प्रेमी मनोज से विवाह कर लेती है। किन्तु इसके पश्चात् भी यह अधूरापन और संबधों का बिखराव समाप्त नहीं होता है। मनोज के साथ अधूरापन महसूस करती हुई वह इस रिश्ते को निभा पाने में स्वयं को असमर्थ पाती है। अपनी असमर्थता और अपनी इस अजनबियत को बिन्नी इन शब्दों में प्रकट करती है, "मैं इस घर से ही अपने अन्दर कुछ ऐसी चीज लेकर गई हूँ जो कि किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देती। दो आदमी जितना साथ रहें, एक हवा में सांस लें, उतना ही ज्यादा एक-दूसरे से अजनबी महसूस करें।"[37] बिन्नी का यह मनोज के साथ रिश्ते में अधूरापन उसे पुनः अपने माता-पिता के यहाँ घर वापस आने पर मजबूर कर देता है। घर का बेटा

अशोक अपने बेकार पिता के प्रति सहानुभूति रखता है तो अपनी माँ सावित्री के प्रति क्रोध। छोटी बेटी किन्नी को घर की यह परिस्थितियाँ संवेदनहीन और अशिष्ट बना देती है। उसे अपने घर में किसी से भी विशेष लगाव नहीं है। आर्थिक रूप से बिखराव परिवार के लोगों के अन्दर की संवेदना को तोड़ देता है और सभी एक-दूसरे से खीझते हैं और एक घर में रहते हुए भी एक-दूसरे से अलग-थलग रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे सभी शरणार्थी हों। सावित्री अपने पति महेन्द्रनाथ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती है और महेन्द्रनाथ अपनी पत्नी सावित्री के आचरण से त्रस्त है। घर के बच्चे घर के इस हालात से एक-दूसरे से अजनबी के समान ही बरताव रखते हैं, साथ ही एक-दूसरे में विशेष रुचि नहीं रखते हैं।

अतः इस नाटक के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि इस नाटक का मुख्य उद्देश्य आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से आज के परिवारों में संबंधहीनता, अजनबीपन, अधूरापन, आंतरिक संघर्ष आदि को विविध स्तरों पर चित्रित करना है।

सम्पूर्ण नाटक एक कमरे में ही घटित दिखाया गया है। जिसे एक प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है। आज के आधुनिक मानव की ज़िंदगी दोहरे स्तर पर संकुचित होती जा रही है। पहले स्थान के सन्दर्भ में, जिसमें शहर की मध्यवर्गीय ज़िंदगी सिकुड़ती जा रही है। दूसरा मानसिक स्तर पर, जहाँ सबंध का महत्त्व अर्थवत्ता पर तय किया जाने लगा है। अर्थात् आज अर्थ के आधार पर संबंध का महत्त्व तय किया जा रहा है। प्रतीक रूप में एक पात्र के माध्यम से पांच पुरुष के चरित्र को प्रस्तुत करना, नाटककार का आज के आधुनिक मानव के चरित्र की ओर संकेत करना है। जिसमें एक व्यक्ति के अन्दर कई चरित्र हो सकते हैं। जैसे महेन्द्रनाथ, जुनेजा, सिंघानिया, जगमोहन ये सभी एक ही आधुनिक व्यक्ति के भिन्न रूप-चरित्र हो सकते हैं। यह एक व्यक्ति ही अलग-अलग परिस्थितियों में बाहर निकलकर भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है।

5.4 'आधे-अधूरे' और 'द्रौपदी'

'आधे-अधूरे' की तुलना यदि हम 'द्रौपदी' नाटक से करें तो यह नाटक भी हमें सीधे-सीधे आज के समकालीन यथार्थ से साक्षात्कार करवाता है। जिस खंडित आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व की पहचान को मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' में प्रारंभ किया था, उसे आगे बढ़ाने का कार्य सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रौपदी नाटक से किया है। सम्पूर्ण नाटक का भाव 'आधे-अधूरे' के ही समान समकालीन मानवीय संबंधों के टूटे-बिखरे, बदले हुए नैतिक मूल्यों तथा अनैतिक काम-संबंधों पर आधारित जीवन को प्रस्तुत करना है। आज के आधुनिक जीवन में व्यक्ति किस प्रकार हालातों के चक्र में फंसकर एक साथ न जाने कितनी ज़िंदगी जीता रहता है। 'द्रौपदी' नाटक आधुनिक जीवन की इन्हीं तमाम विसंगतियों को प्रस्तुत करता है।

जिस प्रकार 'आधे-अधूरे' में एक ही पात्र कई चरित्रों को अभिनीत करता है और वह प्रतीक होता है एक ही व्यक्ति के कई अलग-अलग व्यक्तित्वों का। जैसा कि नाटक के प्रारंभ में ही काले सूट वाला आदमी कहता है, " बात इतनी ही है कि विभाजित होकर किसी-न-किसी अंश में आप में से हर-एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर, मेरी कोई भी एक निश्चित भूमिका नहीं है।"[38] ठीक वैसे ही इस नाटक में भी मनमोहन के कई रूपों का जिक्र सुरेखा करती है। मनमोहन के अन्दर जो काला, सफ़ेद, लाल, पीला नकाबधारी होता है, वह भी आधुनिक मानव के आंतरिक व्यक्तित्व को ही संबोधित करता है। यहाँ मनमोहन पांच खंडित रूपों का पर्याय है। नाटक में वह इन पाँचों रूपों में दिखता है। ये पांचों रूप मिलकर आज के आधुनिक मानव के आंतरिक चरित्र को ही प्रस्तुत करते हैं। आज एक ही व्यक्ति के कई व्यक्तित्व हो गए हैं। एक व्यक्तित्व के अन्दर कई व्यक्तित्व ही आधुनिक इंसान को भोगवादी बना देतें हैं। इसीलिए आज के आधुनिक मानव के बाह्य और आन्तरिक चरित्र में एकरूपता नहीं है। वह मनमोहन की भांति कई खंडित चरित्रों को जीता है, "मनमोहन- काला, सफ़ेद, लाल, पीला नकाब पहने व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत है। काला मनुष्य- अनैतिक जीवन भोगकर नया जीवन जीने की प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

सफेदपोश व्यक्ति- विगत जीवन की घुटन और विषमता को झेलता है। लाल-सेक्स और कुंठा को झेलता है। पीले के सम्मुख पदोन्नति का प्रश्न है। नकाबवाला पुरुष-नौकरी और अपने परिवार के लिए जीता है और इस कारण वह घर और बाहर विभक्त है।"[39]

'आधे-अधूरे' में जिस प्रकार सावित्री और महेन्द्रनाथ एक घर की खोज में भटकते रहते हैं, लेकिन इस प्रयास में असफल ही रहते हैं। ठीक उसी प्रकार 'द्रौपदी' में मनमोहन और सुरेखा भी घर की तलाश में भटकते रहते हैं, लेकिन इनका भी प्रयास असफल ही प्रतीत होता है। दोनों ही नाटकों के दम्पति और उनका परिवार एक मकान और चारदीवारी के भीतर रहते हैं, लेकिन उसे घर की संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि जिन तत्त्वों से घर निर्मित्त होता है, वह है अपनापन, भरोसा, खुशियाँ आदि जो दोनों ही नाटकों में चित्रित घरों में नहीं दिखती हैं। जिस प्रकार 'आधे-अधूरे' नाटक में घर के सभी पात्र एक अजनबियत से गुजरते रहते हैं। एक ही छत के नीचे रहते हुए भी किसी रिश्ते में अपनत्व की भावना नहीं है, ठीक उसी प्रकार 'द्रौपदी' नाटक में भी घर के किसी भी सदस्य में एक-दूसरे के प्रति प्रेम या अपनत्व नहीं है। सभी एक-दूसरे से कटे और बिखरे हुए हैं। किसी का किसी से सामंजस्य नहीं है,

"मनमोहन: क्यों झूठमूठ अपने को बहलाती हो ? वे दोनों जाएँगे हमारे साथ ? कोई न कोई जरूरी काम निकल आएगा उन्हें। एक के दोस्त की सालगिराह ! दूसरे की एक्स्ट्रा क्लास !"[40]

'द्रौपदी' नाटक के कथानक पर दृष्टि डालें तो बोध होता है कि यह आज के आधुनिक उच्च मध्यवर्गीय परिवारों में उत्पन्न एक नई प्रवृत्ति को उजागर करता है। यह प्रवृत्ति है काम के प्रति आसक्ति। जीवन में बाह्य भौतिक सुखों को प्राप्त करने हेतु काम को सेतु की भांति प्रयोग में लाना। जैसे मनमोहन विवाह के पश्चात् भी अंजना, रंजना और वंदना से संबंध बनाता है और ये तीनों स्त्रियाँ भी इस अनैतिक संबंध में समान रूप से रुचि लेती हैं। इस आधुनिक समय में परंपरागत जीवन-मूल्य नष्ट होते जा रहे हैं। पारिवारिक संरचना में जिन संबंधों की अपनी एक गरिमा हुआ करती थी, जिन

परंपरागत पारिवारिक मूल्यों का एक महत्त्व था, वे इस आधुनिक काल में परिवर्तित होते चले गए। 'द्रौपदी' नाटक में सुरेखा और मनमोहन के बच्चे अनिल और अलका दोनों को यह पसंद नहीं कि कोई भी उनकी निजी ज़िन्दगी में दखल दे, चाहे उससे पारिवारिक व्यवस्था को कितनी भी ठेस क्यों नहीं पहुँचती हो। नाटक में अनिल और अलका दोनों एक-दूसरे के अनैतिक संबंध के बारे में जानते हैं और यह चाहते हैं कि किसी भी रूप में उनके मामले में कोई बेदखली न करे। इस सन्दर्भ में अनिल और अलका के बीच होने वाली बहस से आज के बदलते हुए पारिवारिक मूल्य और विघटन का अंदाजा लगाया जा सकता है। अनिल अपने बहन अलका से शनिवार को होने वाले क्लास के सन्दर्भ में व्यंग्य करते हुए पूछता है,

"अनिल: कहाँ होती है ? लालकिले के किसी सुनसान कोने में ? क़ुतुब के किसी झाड़ के पीछे ? या अकेले में किसी पेड़ के नीचे।

अलका: मेरी तरफ से तू भाड़ में जा। बस, मुझसे कोई मतलब न रख। मैं तुझसे पूछती हूँ कभी कि सैलर में किसके साथ बैठता है ? इंडिया गेट पे किसको लिए घूमता रहता है। समझता है, मुझे कुछ पता नहीं?

अनिल: जरा इसका पर्स खोलकर देखो। रिट्ज के बॉक्स की दो टिकटें हैं, दोपहर के शो की। वहीं है इसकी क्लास- सोशियोलांजी नहीं, सैक्सोलांजी.. इतना और पूछ लो कि आज थ्योरी होगी या प्रैक्टिकल।"[41]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अनिल और अलका पाश्चात्य जीवन-शैली में इतने ढल चुके हैं कि अपने रिश्ते के मर्यादा को और परंपरागत पारिवारिक-मूल्यों को विस्मृत कर चुके हैं और शायद इसका कारण इनके माता-पिता ही हैं। जिन्होंने जाने-अनजाने इन्हें इस अनैतिक जीवन-मूल्यों का वातावरण निर्मित करके दिया है।

एक ओर सुरेखा जहाँ खुद एक माता होते हुए भी अपनी पुत्री से यह कहकर कि बात कहाँ तक पहुँची? उसके अनैतिक संबंधों के सन्दर्भ में पूछती है, साथ ही यह कहकर कि उसे जज्बाती बनाकर राजी-ख़ुशी देती जा जो उसे चाहिए। दूसरी ओर पिता मनमोहन अपनी पुत्री के संबंध में ही ऐसी बात कहता है जो अशोभनीय है। जो पिता के रिश्ते को ही कठघरे में लाकर खड़ा कर देता है। मनमोहन अलका के संबंध में टिप्पणी करता हुआ कहता है, "लड़का निहायत ही बेवकूफ है। छह महीनें में सिर्फ ब्लाउज के बटनों तक ही पहुंचा है।"[42] आज पारिवारिक मूल्य कितना विघटित होता जा रहा है यह मनमोहन के इस वक्तव्य से ही ज्ञात हो जाता है।

इस प्रकार 'द्रौपदी' नाटक के कथानक के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि यह नाटक भी 'आधे-अधूरे' के समान ही आधुनिक मध्यवर्गीय और उच्च-मध्यवर्गीय परिवारों के विघटन को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित करता है। दोनों के कथानक में एक मूल अन्तर यह है कि 'आधे-अधूरे' में पारिवारिक विघटन उस स्तर तक नहीं दिखता है जितना कि 'द्रौपदी' में देखा जा सकता है। 'आधे-अधूरे' में सावित्री और महेन्द्रनाथ के परिवार में जैसे पुत्र की पिता के प्रति सहानुभूति दिखती है और कमोबेश बड़ी बेटी बिन्नी का लगाव अपनी माता सावित्री से भी दिखता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि 'आधे-अधूरे' में कहीं न कहीं पारिवारिक मूल्यों का कुछ अंश उनके रिश्तों में बचा हुआ देखा जा सकता है। किन्तु 'द्रौपदी' नाटक में पारिवारिक विघटन पूर्णतः अपने चरम पर देखा जा सकता है। जिसमें न कोई मर्यादा है न परंपरागत पारिवारिक-मूल्यों के प्रति आस्था। बस जीवन की केंद्रीय धुरी काम केन्द्रित हो चुकी दिखती है। जो कि आज के उत्तर-आधुनिक समय की एक बड़ी विसंगति है। ऐसा कहना गलत नहीं होगा ।

'आधे-अधूरे' और 'द्रौपदी' नाटक के पात्रों की तुलना करें तो पाते हैं कि दोनों ही नाटकों के पात्र एक ऐसे परिवार से संबंधित हैं, जिनमें किसी भी सदस्य के बीच किसी भी प्रकार का आपसी तालमेल नहीं है। 'आधे-अधूरे' नाटक में मुख्य पात्र हैं- सावित्री और महेन्द्रनाथ, जो पति-पत्नी हैं। इनके तीन बच्चे बिन्नी, किन्नी, और अशोक हैं। इसके अतिरिक्त अन्य पात्रों में जगमोहन, सिंघानिया

और जुनेजा हैं, जो सहायक पात्र के रूप में हैं। कथा के विकास में इन पात्रों का अपना ही महत्त्व है। 'द्रौपदी' नाटक के पात्रों की बात करें तो मुख्य पात्रों में मनमोहन और सुरेखा हैं। इनके दो बच्चे हैं, अलका और अनिल। इसके अतिरिक्त मनमोहन के ही और चार रूप हैं- सफेद, काला, पीला, और लाल नकाबवाला। मनमोहन के ये चार व्यक्तित्व आधुनिक मानव के भिन्न-भिन्न चरित्र हैं। इन पात्रों की भी नाटक के मूल अर्थ को व्यंजित करने में विशेष भूमिका है। इसके अतिरिक्त नाटक में कई ऐसे पात्र है जो कथा को विस्तार देने में तथा आधुनिक जीवन के रूपों को चित्रित करने में सहायक हैं। जैसे अंजना, रंजना, वंदना, मंदा आदि। 'आधे-अधूरे' की तुलना में 'द्रौपदी' नाटक में पात्र-चरित्र अधिक हैं।

सर्वप्रथम दोनों ही नाटकों के स्त्री पात्रों को देखें तो 'आधे-अधूरे' में मुख्य स्त्री पात्र सावित्री है और 'द्रौपदी' में मुख्य स्त्री पात्र सुरेखा है। दोनों के चरित्र की तुलना परंपरा और आधुनिकता की दृष्टि से करें तो सावित्री और सुरेखा दोनों के ही चरित्र में परंपरा और आधुनिकता देखी जा सकती हैं। किन्तु सावित्री के चरित्र में परंपरागत तत्व आधुनिकता के साथ समाहित होकर आते है, पृथक रूप में नहीं। सावित्री के चरित्र पर दृष्टि डालें तो वह एक आधुनिक नारी प्रतीत होती है जो अपनी जिम्मेदारी का निर्वाहन करने के साथ-साथ अपनी आकांक्षाओं को भी जीना चाहती है। इस सन्दर्भ में आभा गुप्ता ठाकुर लिखती हैं, "सावित्री के विषय में राकेश ने लिखा है कि उसकी उम्र चालीस के लगभग है, पर चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष है। इससे स्पष्ट है कि समकालीन जीवन के दबावों से संघर्ष करती हुई इस स्त्री ने अभी तक जीवन से हार नहीं मानी है। एक ओर अस्मिता के प्रति सचेत है तो दूसरी ओर अपने परिवार के प्रति दायित्व का भी पूरा निर्वाह करती है।"[43] सावत्री के चरित्र में आधुनिकता इस तरह देखी जा सकती है कि वह स्वयं को किसी वस्तु के समान परिभाषित नहीं होने देती है, बल्कि इस्तेमाल होने की मानसिकता के विरुद्ध संघर्ष करती है। सावित्री न तो अपने पति महेन्द्रनाथ के साथ खुश रह पाती है और न ही उससे मुक्त हो पाती है। सावत्री अपने स्तर से अपने घर के अभाव को दूर करना चाहती है, जिसके लिए वह सिंघानिया को घर भी बुलाती

है ताकि उसके बेटे अशोक को नौकरी मिल जाए। किन्तु इसके पश्चात् भी उसे घर में पति महेन्द्रनाथ और बेटे अशोक से सराहना नहीं मिल पाती है। घर के बाकी लोगों में किसी भी बातों को लेकर एकता या समान भाव नहीं है। ऐसे में सावित्री बार-बार अपनी ज़िंदगी से तंग आकर इस घर को छोड़ देना चाहती है किन्तु छोड़ नहीं पाती है। कुल मिलाकर सावित्री के घर में घर वाली कोई भी बात नहीं होती है। हर एक चरित्र और हर एक रिश्ता अपने में अलग खंडित है, "इतनी गर्द भरी रहती है हर वक्त इस घर में !"[44] इस वाक्यांश से बोध होता है कि सावित्री के घर का परिवेश कैसा है। ऐसे में सावित्री जहाँ एक स्त्री होने के नाते अपने दायित्व का निर्वाह करती है। घर की पूरी जिम्मेदारी उठाती है, तब वह एक परंपरावादी दिखती है। माता होने के नाते या पत्नी होने के नाते अपने दायित्व का पूर्णतः निर्वाह करती है, किन्तु इस निर्वहन में किसी दायरे में बंधकर नहीं रहती है, बल्कि अपने घर की परिस्थितियों को बेहतर बनाने के लिए हर एक संभव प्रयास करती है। चाहे घर पर अपने बॉस सिंघानिया को ही बुलाना क्यों न पड़े। वह आधुनिक नारी की भांति व्यवहार करती है। तभी वह अपनी निजी ज़िंदगी के बारे में भी सोचती है। सावित्री महेन्द्रनाथ से विवाह जिन इच्छाओं से करती है, घर बसाती है उसे वह अधूरा पाती है। इन कारणों से वह बार-बार घर से बाहर निकलने का प्रयास करती है। अलग-अलग लोगों से जुड़ती है, लेकिन असफल रहती है। कहते हैं जब एक पुरुष अपने परम्परवादी रूपों को त्यागकर आधुनिक तत्वों को ग्रहण करता है तो वह कोई विशेष विवाद का मुद्दा नहीं बनता है। लेकिन एक स्त्री जब परंपरा को त्याग कर आधुनिक बनती है तो कई सवाल कई विवाद खड़े हो जाते हैं। इसीलिए सदा से समाज को यह उम्मीद रहती है कि स्त्री परंपरा का वाहक बने। स्त्रियों को परंपरागत रूप से जो जिम्मेदारियाँ सौंपी गई थीं, जैसे घर और बच्चों की देखभाल, गृहस्थी संभालना आदि, वह उनके हिस्से आज भी हैं। जिसका पालन वह आज भी कर रही है। नाटक में सावित्री भी अपने घर के प्रति एक समय तक चिंतित दिखती है और घर के हालात को ठीक करने के लिए प्रयासरत रहती है, किन्तु इसके पश्चात् भी जब घर के लोगों का सहयोग नहीं प्राप्त होता है, तब वह उनसब से बाहर निकलना चाहती है। अपनी ज़िंदगी

को अपनी शर्तों पर जीना चाहती है। लेकिन बार-बार उसकी घर वापसी इस बात को इंगित करती है कि कहीं न कहीं उसके अन्दर दाम्पत्य जीवन के संस्कार जीवित बचे हुए हैं। शायद इस रूप में सावित्री को देखें तो वह एक परंपरावादी स्त्री दिखती है। लेकिन वक्त के साथ जैसा कि स्त्री के हिस्से आधुनिक जीवन शैली में अतिरिक्त जिम्मेदारियाँ बढ़ गई हैं। ऐसे में वह सावित्री की भांति घर से बाहर निकली है और तमाम उलझनों का सामना करती है। हर रोज एक नई चुनौती सामने होती है, उन्हीं में वो घिसती-पिसती है। वह भी इस आधुनिक यांत्रिक दुनिया का हिस्सा बन चुकी है। वह भी अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए या जीवन लक्ष्य को पाने के लिए व्यावहारिक हो जाती है। आधुनिकता के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पक्षों को ग्रहण कर लेती है, "परंपरा और आधुनिकता जैसे प्रश्न सावित्री के सामने प्रश्नचिन्ह बनकर खड़े रहते हैं और वह निर्णय लेने से कतराती है। स्त्रियों से यह अपेक्षा सदा रहती है कि वह परंपरा की वाहक बनेंगी। परंपरा में स्त्रियों को जो जिम्मेदारियाँ सौंपी गई थीं, कमोबेश आज भी उनके हिस्से में वे सब जिम्मेदारियाँ हैं। उनकी पारंपरिक भूमिका में कोई काट-छाँट नहीं हुई है, लेकिन आधुनिक जीवनशैली ने उन पर कुछ और जिम्मेदारियाँ भी लाद दी हैं। सावित्री भी अपनी पारंपरिक एवं आधुनिक दोनों भूमिकाओं के पाटों में पिसती और घिसती नज़र आती है। परंपरागत नारी से आधुनिक नारी के इस संक्रमण का ऐसा दृश्यांकन दुर्लभ है।" [45] सावित्री भी नाटक में प्रतीक है आज की उनआधुनिक स्त्रियों की, जो इस आधुनिक समय की नब्ज़ को पहचान चुकी हैं, वह उसी के मुताबिक व्यवहार करती है। अतः सावित्री कहीं परंपरागत चरित्र में दिखती है तो कहीं उसका चरित्र आधुनिक प्रतीत होता है।

'द्रौपदी' नाटक की मुख्य स्त्री पात्र सुरेखा के चरित्र की तुलना यदि हम 'आधे-अधूरे' के सावित्री से करें तो सुरेखा एक ऐसी पात्र है जो खुद को परंपरावादी स्वरूप से आधुनिक चरित्र तक ढालकर ले जाती है। ऐसे में सुरेखा को भी सावित्री की भांति परंपरावादी और आधुनिक चरित्रों में देखा जा सकता है। इस नाटक में सुरेखा महाभारत की द्रौपदी के समान आभासित होती है। जैसे महाभारत की द्रौपदी के पांच पति होते हैं, उसी प्रकार इस नाटक में भी सुरेखा के पति मनमोहन के चार अतिरिक्त

चरित्र हैं, जिसका आभास कई मौकों पर होता है, "वह अपनी सहेली मंदा के साथ बातचीत में पूर्णतः स्पष्ट करती है कि विवाह के पश्चात् उसका आदमी एक नहीं एक से ज्यादा है। जैसे उनके हिस्से हो गए हैं, अलग-अलग और कभी एक से उसका सामना होता है और कभी दूसरे से।"[46] इस प्रकार सुरेखा महाभारत की द्रौपदी के समान प्रतीत होती है, जो आधुनिक युगीन एक ऐसी उच्चमध्यवर्गीय नारी है, जिसका सामना अपने पति मनमोहन के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों से ही होता है। सुरेखा सावित्री के समान अपनी आकांक्षाओं को जीने का प्रयत्न करती नहीं दिखती है। सावित्री के समान सुरेखा सशक्त नहीं है। एक भारतीय परंपरावादी स्त्री के समान पति के सन्दर्भ में चुप ही रहती है। मनमोहन के अलग-अलग स्त्रियों से संबंध के बारे में जानते हुए भी वह चुप रहती है। सुरेखा में किसी भी प्रकार का कोई प्रतिरोध दिखता ही नहीं है। वह अपनी उपेक्षा चुपचाप सह लेती है। जैसे कि उसकी ज़िंदगी की यही नियति हो। सुरेखा का यह स्वभाव और चरित्र उसे एक भारतीय परम्परवादी नारी के रूप में प्रस्तुत करता है, जो अपना अस्तित्व पति से पृथक करके देखती ही नहीं है और इस प्रकार की उपेक्षा या प्रताड़ना को अपनी किस्मत के साथ जोड़कर देखने लगती है, "सुरेखा: जैसे उसके हिस्से हो गए हैं अलग-अलग और कभी एक से तुम्हारा सामना होता है और कभी दूसरे से..जैसे कभी वो दफ्तर में डूबा रहता है, कभी घर में, कभी ऊपर-ऊपर से मुझे छू के ही उसका मन भर जाता है और कभी वो एक-एक बोटी नोंच डालता है मेरी।

मंदा: ऐसा तो मुझे भी लगता है अक्सर।

सुरेखा: और कभी उसके बदन से दूसरी औरत की बू आती है।

यह सब सहना जैसे सुरेखा की नियति है। मानो पति के साथ निर्वाह का तरीका परंपरा से उसने यही ग्रहण किया है।"[47] इस रूप में देखें तो सुरेखा सावित्री के समान अपनी आकांक्षाओं को जीने के लिए प्रयास नहीं करती है, उसमें एक निराशा का भाव है। सुरेखा के इस पूरे प्रकरण की समीक्षा करें तो एक-दूसरी दृष्टि से सुरेखा आधुनिक भी प्रतीत होगी, क्योंकि आज उच्चमध्यवर्गीय परिवारों की

स्त्रियाँ अपने पति के पर स्त्रियों के साथ संबंध के बारे में जानते हुए भी किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करती हैं। अतः बाह्य रूप से ये स्त्रियां दिखती तो सुखी और प्रसन्न हैं, किन्तु उनकी पूरी आंतरिक दुनिया खंडित और अधूरी ही होती है। इस प्रकार आज सुरेखा की ज़िंदगी प्रतीकात्मक रूप से बड़े शहरों और उच्च-मध्यवर्गीय परिवार की स्त्रियों की कटु सच्चाई बन चुकी है। नाटक में देखें तो सुरेखा भी अपने अकेलेपन की नियति को स्वीकार कर चुकी होती है। पति मनमोहन का अस्तित्व उसके अस्तित्व पर अविलंबित होता है।

सुरेखा और सावित्री के चरित्र में एक जो समानता है, वह है अपने घर के प्रति उत्तरदायित्व। सावित्री अपने बेटे अशोक को नौकरी दिलाने के लिए अपने स्तर से कोशिश करती है। जिसके लिए वह अपने बॉस सिंघानियां से नजदीकियाँ बनाकर रखती है, उसे घर भी बुलाती है। जिसमें उसकी घर के प्रति चिंता दिखती है। वहीं सुरेखा का चित्रण एक उच्चमध्यवर्गीय स्त्री के रूप में है। इसके बावजूद वह नाटक के प्रथम अंक में घर के सभी लोगों को जिस प्रकार नाश्ते के लिए बुलाती है, उससे उसके अन्दर एक ऐसे परंपरावादी स्त्री की छवि दिखती है, जो माँ होने के नाते अपना उत्तरदायित्व निभाती हुई दिखती है, "सुरेखा: (मेज़ पर इधर-उधर करने लगती है। एक ओर देखती हुए, पुकारकर) अलका (दूसरी तरफ देखते हुए) नील नाश्ता लग गया।

मनमोहन: अच्छा।

सुरेखा: पहले क्या लोगे ? टोस्ट, या आमलेट या हलवा ?

मनमोहन: कुछ भी।

सुरेखा: चाय, काफी या दूध ?

मनमोहन: कुछ भी। ये दोनों नहीं आये ?

सुरेखा: लकी नहाने गयी है नीचे, और वो लाटसाहब अभी-अभी सो के उठे हैं।"[48]

अतः यह कहा जा सकता है कि सुरेखा उच्चमध्यवर्गीय परिवार की होते हुए भी उसके चरित्र का एक पक्ष यह है कि वह भारतीय परिवार की परंपरा का निर्वाह करती हुई दिखती है जिसमें माता की अपने बच्चों के प्रति चिंता और उत्तरदायित्व होता है।

सुरेखा अपने समकालीन समाज के चरित्र और स्वभाव को जानती है। तभी आगे सुरेखा परंपरा के साथ-साथ आधुनिकता के मानदंडो पर भी खरी उतरती है। सुरेखा अपनी बेटी अलका से उसके यौन- संबंध के सन्दर्भ में पूछती है। यहाँ पूछना उस सन्दर्भ में नहीं है, जहाँ माँ को पुत्री के ऐसे संबंधों की जानकारी होने पर बड़े कड़े शब्दों में प्रश्न किये जाते थे, बल्कि यहाँ सुरेखा का प्रश्न जिज्ञासावस है। जिसका अर्थ निकलता है कि सुरेखा को अपनी बेटी अलका के यौन सबंध की जानकारी पूर्व ही होती है और वह इस सन्दर्भ में कुछ नया जानने की इच्छा से पूछती है,

"सुरेखा: (कुछ रुककर) बात कहाँ तक पहुँची ?

अलका: क्या मतलब ?

सुरेखा: कुछ शादी-वादी की बात की उसने ?

अलका: नहीं।

सुरेखा: क्यों ?

अलका: अब ये मैं कैसे जान सकती हूँ ? उसके भीतर जा घुसने का तो कोई रास्ता है नहीं !

सुरेखा: देख, मोटी सी बात समझ ले। वो तुझे चाहता है ?

अलका: हाँ।

सुरेखा: बहुत न ?

अलका: कहता तो है।

सुरेखा: बस तो फिर .. ढंग से ज़रा मामले को आगे बढ़ाने की जरूरत है। थोड़ी देर चाँद-सितारों की बातें करके, उसे जज्बाती बनाकर..

अलका: तो क्या करूँ ? जबरदस्ती बंध जाऊं उसके गले ?

सुरेखा: जबरदस्ती क्यों, राजी-ख़ुशी देती जा उसे जो कुछ वो चाहता है ! कहाँ तक ?

अलका: मम्मी !

सुरेखा: क्यों ? जब इतनी छूट देती हूँ तुझे तो जानने का हक़ नहीं रखती मैं ? कहाँ तक ?"[49]

सुरेखा सावित्री के समान ही आधुनिक युग के बदले हुए मूल्य को समझती है। वह जानती है कि आज की इस आधुनिक दुनिया में रिश्तों का आधार आत्मीय प्रेम नहीं रह गया है, बल्कि मांसल हो चुका है। ऐसे में सुरेखा अपनी बेटी अलका को आज के उन आधुनिक उपायों का सुझाव देती है जिनसे उसे आने वाली ज़िंदगी में सब कुछ मिल जाएगा। एक घर, एक पति और वह सभी भौतिक सुख जिसकी कल्पना हर एक व्यक्ति इस आधुनिक काल में करता है।

इस प्रकार 'आधे-अधूरे' की सावित्री और 'द्रौपदी' की सुरेखा एक आधुनिक युगीन ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनके चरित्र का एक पक्ष यह है कि वे अपने मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन में मातृत्व और अपना व्यक्तिगत दोनों दायित्व निभाती है। इस रूप में उनके चरित्र की परंपरागत छवि उभरकर सामने आती है। किन्तु यही स्त्रियाँ जब अपनी आकांक्षाओं और व्यक्तिगत जीवन सुखों की कल्पना करती हैं, तो वह पुरानी सभी परंपराओं को त्याज्य अपने लिए नवीन मार्ग तलाशती हैं। वे स्त्रियों के लिए बनाई गई मर्यादाओं को मानने से इनकार कर देती हैं। 'द्रौपदी' नाटक में यदि मनमोहन कई स्त्रियों से यौन-संबंध बना सकता है, तो 'आधे-अधूरे' में सावित्री कई पुरुषों के साथ संबंध स्थापित करती है। इस विघटित समाज, परिवार का यह एक कड़वा सच बनता जा रहा है कि व्यक्ति स्वयं में पूर्ण नहीं है। अतः अपने आस-पास भी दूसरे में अपूर्णता ही पाता है। अतः एक पूर्ण रिश्ते की तलाश में भटकता है, जिसके माध्यम से एक सुखी ज़िंदगी की कल्पना की जाए। आज के आधुनिक जीवन के बदले

हुए मूल्यों का बोध सावित्री और सुरेखा जैसी स्त्रियों में भी खूब है। ऐसे में परिवार और परिवार के सदस्यों का जीवन में मार्गदर्शन भी बदले हुए आधुनिक जीवन मूल्यों के आधार पर ही करती हैं। जिसमें स्त्री और पुरुष का संबंध उसके आत्मीय प्रेम के आधार पर तय करने की प्रेरणा नहीं देती हैं, बल्कि यौन संबंधों के माध्यम से उन रिश्तों को पाने के सुझाव और तरीके सुझाती हैं। इस प्रकार 'आधे-अधूरे' की सावित्री और 'द्रौपदी' की सुरेखा के चरित्रों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि दोनों के चरित्र में कहीं परंपरा तो कहीं आधुनिकता का बोध है।

सावित्री और सुरेखा के अलावा इन दोनों नाटकों में कुछ अन्य स्त्री पात्र भी हैं, जिनका नाट्य-कथा में विशेष महत्त्व है। 'आधे-अधूरे' में सावित्री की बड़ी बेटी बिन्नी और छोटी बेटी किन्नी तथा 'द्रौपदी' नाटक में सुरेखा की बेटी अलका। बिन्नी और किन्नी की तुलना यदि अलका से करें तो बिन्नी, किन्नी और अलका पूर्णतः आधुनिक स्त्री चरित्र हैं। इसके बावजूद इन दो नाटकों के इन स्त्री चरित्रों में हम देखें तो कुछ भिन्नताएँ देखी जा सकती हैं। इनकी पारिवारिक परिस्थितियों के माध्यम से इनके चरित्रों को समझा जा सकता है। बिन्नी और किन्नी दोनों जिस परिवार से संबंधित हैं वह परिवार एक आधुनिक युगीन मध्यवर्गीय विघटित परिवार है। जहाँ किसी भी पारिवारिक सदस्य में किसी भी प्रकार का समांजस्य नहीं है। हर एक व्यक्ति घर में एक-दूसरे से कटा हुआ है। सबने अपने आस-पास एक अलग ही दुनिया निर्मित कर ली है। जैसे बड़ी बेटी इस घर से ऊबकर अपने लिए एक नए घर की तलाश में अपनी माँ के पूर्व प्रेमी मनोज के साथ भागकर विवाह कर लेती है, लेकिन मनोज के साथ भी खुश नहीं रह पाती है और पुनः घर लौटकर आ जाती है। अशोक अपने पिता के समान बेकारी झेलता है और अपना वक्त अभिनेत्रियों की तस्वीरें काटकर दीवारों पर चिपकाने में बिताता है। छोटी बेटी घर के इस माहौल से अशिष्ट और जिद्दी हो चुकी है। घर से उसे बहुत लगाव नहीं है और अपनी इस छोटी-सी उम्र में ही अश्लील यौन किस्सों, पुस्तकों और तस्वीरों में रुचि लेती है।

बिन्नी और किन्नी के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि ये दोनों अपनी माँ सावित्री की प्रतिछाया हैं। दोनों का चरित्र अपनी माता के समान ही है, "'आधे-अधूरे' नाटक में दूसरी स्त्री चरित्र है- बिन्नी, सावित्री की बेटी। बिन्नी एक तरह से अपनी माँ का एक्सटेंसन ही है।"[50] दरसल जिस प्रकार सावित्री को चिंता अपने घर की होती है ठीक उसी प्रकार बिन्नी को भी मनोज के साथ बसाए अपने घर की होती है। वह सोचती है कि यदि यह घर बच जाएगा तो उसका भी घर बच जाएगा। दरसल बिन्नी भी सावित्री के समान अपने दाम्पत्य जीवन में खुश नहीं है। जिस प्रकार सावित्री महेन्द्रनाथ को पूर्ण नहीं मानती और कई बार उससे अलग हो जाना चाहती है। बिन्नी भी अपने पति मनोज में अधूरापन ही देखती है। जिस घर की तलाश में वह मनोज के साथ विवाह करती है, वह घर की तलाश उसकी अपूर्ण रह जाती है। अतः अपने पति को छोड़ वह पुनः लौटकर अपने माता-पिता के घर आ जाती है। दरअसल बिन्नी और किन्नी के इस चरित्र निर्माण में इनके घर और परिवार की विघटित परिस्थितियों की अहम् भूमिका है। लेकिन इसके लिए प्रत्यक्ष रूप से माता-पिता अर्थात् सावित्री या महेन्द्रनाथ किसी भी प्रकार से इन दोनों को प्रेरित नहीं करते हैं। दूसरी ओर देखें तो 'द्रौपदी' नाटक में सुरेखा अपनी बेटी अलका को यौन-संबंधों के लिए छूट देती है। उसे स्वयं तरीके बताती है जिससे वह अपने प्रेमी से अपना उद्देश्य पूरा कर सके। ऐसे में देखें तो अलका का चरित्र बिन्नी और किन्नी से अधिक विघटित है। जिसमें उसकी माँ सुरेखा का प्रत्यक्ष रूप से सहयोग है। बिन्नी और किन्नी एक मध्यवर्गीय परिवार की लड़कियाँ हैं जिनके चरित्र का यह निर्माण पारिवारिक परिस्थितिजन्य निर्मित होता है। किन्तु अलका उच्च मध्यवर्गीय परिवार की लड़की है, जिसे कहें तो इस उत्तर-आधुनिक युग के वातावरण में स्वयं उसकी माँ सुरेखा एक तरह से प्रशिक्षित करती है। आज के इस उत्तर-आधुनिक काल में कैसे अपनी जरूरतों को पूरा करते हैं, उसे स्वयं बताती है।

निष्कर्षतः दोनों ही नाटकों के ये अन्य स्त्री पात्र बिन्नी, किन्नी और अलका के चरित्रों के संदर्भों में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक परिवार के ये अपूर्ण पात्र चरित्र हैं। ये तीनों भी मुख्य स्त्री पात्र के समान सम्पूर्णता की खोज में भटकते रहते हैं। खुद इनका व्यक्तित्व खंडित है, जिससे ये अपने ही

परिवार के लोगों के साथ सामंजस्य नहीं रखते हैं और घर में एक-दूसरे के प्रति कटु व्यवहार रखते हैं। अंततः यह कहा जा सकता है कि बिन्नी और किन्नी आधुनिक युग में खंडित और भटक गए युवाओं का प्रतीक हैं। भटकाव का आरंभिक रूप हम बिन्नी और किन्नी के चरित्र में देख सकते हैं और इस भटकाव का परिपक्व रूप अलका के चरित्र में देख सकते हैं। बिन्नी और किन्नी की तुलना में अलका का चरित्र अधिक विघटित, खंडित और भटका हुआ है।

मोहन राकेश कृत नाटक 'आधे-अधूरे' के महेन्द्रनाथ और सुरेन्द्र वर्मा कृत नाटक 'द्रौपदी' के मनमोहन के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन करें तो दोनों ही आधुनिक युगीन समाज के खंडित पात्र-चरित्र हैं। सर्वप्रथम महेन्द्रनाथ के चरित्र को देखें तो वह एक ऐसा आधुनिक इंसान है, जो अपनी ज़िंदगी की लड़ाई हार चुका है। जिसमें इससे बाहर निकलने की एक छटपटाहट है। एक ओर आर्थिक पराजय ने उसे तोड़ दिया है तो दूसरी ओर से पत्नी की कमाई पर जीवन यापन करना उसे अन्दर से पूर्णतः ही तोड़ देता है। इस प्रकार महेन्द्रनाथ तीन स्तरों से पराजित है। पहला आर्थिक रूप से, दूसरा अपनी निजी चिंताओं तथा अपने अहं से और तीसरा अपने पारिवारिक संबंधों में वैमनस्य से वह खुद को पराजित महसूस करता है। महेन्द्रनाथ एक मध्यवर्गीय परिवार के उस मुखिया का प्रतीक है जो खुद में पराजित है। जो अपने घर, अपने परिवार और परिवार के सदस्यों के लिए कुछ नहीं कर सका। इसीलिए अपने ही घर में वह परायेपन और अकेलेपन को झेलने के लिए विवश है। महेन्द्रनाथ आंतरिक और बाह्य दोनों ही रूपों में अलग-अलग धरातल पर जीता है। ऐसी स्थिति आज कमोबेश लगभाग अधिकांश महानगरीय लोगों की है। आज महेन्द्रनाथ के समान ही आधुनिक व्यक्ति कई चरित्रों को जीता रहता है। नाटक के प्रारंभ में काले सूटवाले जिसको महेन्द्रनाथ का ही एक रूप माना गया है। या यूं कह लें कि काले सूटवाला प्रतीक है, आज उस हर एक व्यक्ति का जो सड़क पर चल रहा है या कहीं भी मौजूद है। जो अपनी ज़िंदगी में कई चरित्रों के माध्यम से जीता रहता है। नाटक में काले सूटवाले के संवाद से इस बात की पुष्टि होती है, "जो मैं इस मंच पर हूँ, वह यहाँ से बाहर नहीं हूँ, और जो बाहर हूँ-शायद अपने बारे में इतना ही कह देना काफी है कि सड़क

पर, फुटपाथ पर चलते हुए, आप अचानक जिस आदमी से टकरा जातें हैं, वह मैं हूँ। बात इतनी ही है कि विभाजित होकर भी किसी-न-किसी अंश में आप में से हर एक व्यक्ति हूँ। यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर मेरी कोई निश्चित भूमिका नहीं है।"[51]

'द्रौपदी' नाटक के मनमोहन की तुलना महेन्द्रनाथ से करें तो मनमोहन उच्च मध्यवर्गीय परिवार का एक मुखिया है। मनमोहन महेन्द्रनाथ की भांति आर्थिक रूप से पराजित नहीं है, किन्तु वह एक ऐसे आधुनिक समाज का चरित्र है जो महानगरीय जीवन में खंडित है, तनावग्रस्त जीवन जीता है। 'आधे-अधूरे' का महेन्द्रनाथ जहाँ आर्थिक रूप से टूटा हुआ है। जिसका परिवार के सदस्यों के मध्य कोई विशेष महत्त्व नहीं है। व्यक्तिगत रूप से वह किसी भी प्रकार से अपने परिवार से जुड़ नहीं पाता है। वहीं मनमोहन घर से बाहर अपने भौतक और काम-सुखों के पीछे बेतहासा भागता ही रहता है। उसे अब अपनी पत्नी सुरेखा में विशेष रुचि नहीं है। जिस प्रकार 'आधे-अधूरे' में पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन कहकर प्रतीक रूप में अन्य पात्रों को प्रस्तुत किया गया है और यह माना गया है कि ये किसी न किसी रूप में महेन्द्रनाथ की ही प्रतिछाया हैं, "महेंद्र, जगमोहन, सिंघानियां, जुनेजा सभी मिलकर आज के आधुनिक मनुष्य के संश्लिष्ट रूप हैं। वे एक-दूसरे के पूरक हैं। महेंद्र के स्थान पर जगमोहन या जुनेजा को रखने से स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इन सभी पात्रों के गुणों को एक में समन्वित करने से ही एक पूर्ण आधुनिक व्यक्ति की सहज प्रतीति हो जाती है।"[52]

उसी प्रकार मनमोहन के व्यक्तित्व के पांच रूप हैं और जब मनमोहन को अपनी पत्नी सुरेखा में ताजगी नहीं मिलती तब उसके व्यक्तित्व का लाल नकाबधारी उस पर हावी होता है, "लाल नकाबधारी इस रूप को अब सुरेखा में ताजगी नहीं मिलती है। अब सुरेखा में वह नएपन का अहसास, जो उसे पहले मिलता था, नहीं रहा। इसीलिए वह ताजगी और नयापन पाने के लिए सप्ताह में तीन-चार दिन ऑफिस के काम के बहाने घर से बाहर रहता है। इतना ही नहीं वह स्थाई रूप से हर सप्ताह शनिवार को महीने की चार रातें घर के बाहर रंजना, अंजना, वंदना के साथ बिताता है। इस प्रकार वह अपनी पत्नी सुरेखा के साथ विश्वासघात करता है।"[53]

इस तरह मनमोहन के व्यक्तित्व के कई और भी रूप हैं। जैसे-सफेद नकाबपोश जो प्रतीक है, मनमोहन की अंतरात्मा का, जो उसे हमेशा गलत कार्य करने से पूर्व आगाह करता है। साथ ही सत्यमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। मनमोहन के अन्दर का यह सफेद नकाबपोश कहीं-न-कहीं हर एक इन्सान के अन्दर होता है जो उसे सही और गलत कार्यो में फर्क बताता है। किन्तु आज आधुनिकता और यांत्रिकता के पीछे भागते मनुष्य ने इस चरित्र को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया है। पीला नकाबधारी प्रतीक है, आज के आधुनिक भौतिक सुखों के पीछे दौड़ते-भागते व्यक्ति का। उस व्यक्ति का जो हर पल दूसरे से आगे निकलने की फिक्र में रहता है और निरंतर भौतिक सुखों की प्राप्ति हेतु भागता ही रहता है। इसके बाद मनमोहन का लाल नकाबधारी, जो प्रतीक है अनैतिक-काम संबंधों में लिप्त, स्त्रियों की विवशता का फायदा उठाकर यौन शोषण करने वाले आधुनिक व्यक्ति का और मनमोहन का चौथा चरित्र है काले नकाबधारी का, जो भ्रष्ट और क्रूर है। काला नकाबधारी बहुत ही महत्त्वाकांक्षी है। यह अच्छाइयों को मार देना चाहता है। इसीलिए वह सफेद नकाबधारी पर तरह-तरह के ज़ुल्म करता है। मूलतः काला नकाबधारी आज के उन बुरे अत्याचारी, व्याभिचारी लोगों का प्रतीक है, जो समाज में बुराइयों को बढ़ावा देते हैं। समाज में व्याप्त सभी कार्यों को गलत रास्ते के माध्यम से ही करते हैं, जो नियम क़ानून को विशेष महत्त्व नहीं देते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि मनमोहन इस नाटक में प्रतीक है आज के उस आधुनिक महानगरीय जीवन में उस वर्ग का जो अत्यंत भोगवादी है। जो बाह्य रूप से दिखता तो एक है, किन्तु उसके कई और भी चरित्र मनमोहन के समान हैं। जो एक साथ कई चरित्रों को जीता रहता है। अतः इस वर्ग के लोग कई रूपों में खंडित हैं। जो अलग-अलग समय में अलग-अलग चरित्रों के माध्यम से जीते हैं।

महेन्द्रनाथ और मनमोहन दोनों के चरित्र का एक और पक्ष यह है कि महेन्द्रनाथ अपनी ज़िंदगी में हारा हुआ व्यक्ति है। वह अपनी इस ज़िंदगी से ऊब चुका है और कई बार वह घर से बाहर निकलता है एक नई ज़िंदगी की तलाश में, लेकिन हर बार वह छड़ी टेकते हुए घर वापस आ जाता है। कहने का अर्थ है कि वह अपने लिए एक सही मायने में घर की तलाश में घर को छोड़कर निकल जाता है,

लेकिन किसी भी रूप में वह सफल नहीं हो पाता है। वह हर बार वापस आकर अपने उसी घर में उस घुटनभरी ज़िंदगी जीने के लिए विवश होता है। कह सकते है कि मोहन राकेश ने महेन्द्रनाथ के माध्यम से आधुनिक मनुष्य के खंडित होते चरित्र को इस नाटक में चित्रित किया है। वहीं सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रौपदी' नाटक में जिस मनमोहन की कल्पना की है, उसका चरित्र कई रूपों में खंडित तो है, लेकिन उसके सभी खंडित व्यक्तित्व महेन्द्रनाथ के चरित्र से अधिक विघटित हो चुके हैं। ऐसा प्रतीत होता है जिस खंडित-विघटित जीवन को महेन्द्रनाथ जीता रहता है, उस जीवन का और भी विकृत रूप मनमोहन जीता है। ऐसा जान पड़ता है जैसे यहाँ सिर्फ पात्र का नाम बदल गया हो और महेन्द्रनाथ मनमोहन बन गया हो एवं महानगरीय आधुनिक जीवन में उसका चरित्र और भी भ्रष्ट हो गया हो। महेंद्रनाथ अपने घर में कितना भी उपेक्षित क्यों न हो, कई बार हिंसात्मक क्यों न हो गया हो, लेकिन उसके बाद भी महेन्द्रनाथ वर्षों सावित्री के साथ ही अपना दाम्पत्य जीवन बिताता है, "नाटक के अंत में सावित्री के लम्बे कथनों से लगता है कि दोस्तों के हाथ की 'चीज' बनकर महेंद्र का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं रह गया। वह दोस्तों के बीच रहने वाला महेंद्र ही बना रहना चाहता है, और इसके लिए महेंद्र घर के अन्दर रात-दिन छटपटाता है। दीवारों से सिर पटकता है। बच्चों को पीटता है और घर आकर बीवी पर हुक्म चलाता है। बीवी को जबरदस्ती अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है। सावित्री को पीटकर कहेगा कि 'बोल, चलेगी उस तरह कि नहीं, जैसे मैं चाहता हूँ ? बिना हाड़-मांस के पुतले जैसे इस आदमी से उसे चिढ़ होती जाती है, लेकिन सारी कटुता के साथ बाईस साल ज़िंदगी की काटती है उसके साथ।"[54] बाईस साल एक साथ किसी भी दाम्पत्य का तमाम मतभेदों के बाद भी साथ गुजार देना दोनों के अन्दर के प्रेम को दिखाता है, जो उनके अंदर बचा हुआ है। कहने का अर्थ यह है कि महेन्द्रनाथ के जीवन में आधुनिक जीवन की तमाम विसंगतियों, विघटन, टूटन बिखरन, अकेलापन, अधूरेपन के पश्चात् भी परंपरागत जीवन मूल्य का कुछ-एक अंश ही शायद उसे उस घर में बांधे रखता है। साथ ही घर के पारिवारिक वातावरण में कितनी भी घुटन क्यों न हो, उसके बाद भी मनमोहन के समान रिश्तों की गरिमा को तार-तार नहीं करता है। मनमोहन के संवादों को

सुनकर उसके चरित्र के संबंध में तो यह कहा जा सकता है कि उसके लिए पारिवारिक संबंध, उसकी गरिमा उसके लिए विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। सदियों से चली आ रही भारतीय परंपरा जिसमें माता-पिता की अपने बच्चों के प्रति विशेष जिम्मेदारी बनती है। जहाँ अच्छे संस्कारों से अपने बच्चों को सींचना उनका प्रथम दायित्व होता है। उन सभी उत्तरदायित्वों से मनमोहन दायित्वहीन ही दिखता है। इसके साथ ही वह आधुनिक और महानगरीय जीवन का वह भटका हुआ पात्र चरित्र है, जिसके लिए किसी भी संबंध उसकी मर्यादा विशेष महत्त्व नहीं रखता है। तभी उसकी पत्नी सुरेखा अपनी बेटी अलका के यौन-संबंधों की शिकायत करते हुए बताती है तो प्रत्युत्तर में मनमोहन जो जवाब देता है उसे सुनकर यह कहा जा सकता है कि मनमोहन आधुनिक महानगरीय जीवन का वह पात्र चरित्र है, जिसके लिए कोई भी संबंध का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वह अपने खंडित व्यक्तित्व चरित्र के माध्यम से सिर्फ अपने लिए ही जीता है, "सुरेखा: सुनी अपनी लाडली की बातें ?

मनमोहन: लाडली ? कब से चल रहा है यह सिलसिला ?

सुरेखा: छ: महीने से ?

मनमोहन: तुम्हारा क्या ख़याल है; यह लड़की सही बोल रही है ?

सुरेखा: किस बारे में ?

मनमोहन: लड़का निहायत ही बेवकूफ है।

सुरेखा: क्यों ?

मनमोहन: छह महीनों में सिर्फ ब्लाउज के बटनों तक पहुँच सका।

सुरेखा: तुम्हें शर्म नहीं आती ? इस तरह बोलते हो अपनी बेटी के लिए ?

मनमोहन: वो मेरी बेटी नहीं है।

सुरेखा: अब मुझे गाली देते हो !"[55]

अतः इन संवादों के माध्यम से मनमोहन के चरित्र के सन्दर्भ में यह स्वतः ही कहा जा सकता है कि महेन्द्रनाथ की तुलना में उसका चरित्र अधिक विघटित और आधुनिक जीवन की विसंगतियों से भरा हुआ है। साथ ही उसका चरित्र अधिक खंडित, पथभ्रमित और पथभ्रष्ट हो चुका है।

सुरेन्द्र वर्मा द्वारा रचित दो और ऐसे नाटक हैं जो कि आज के विघटित आधुनिक रिश्तों की परतों को खोलते हैं। वे नाटक हैं 'एक दूनी एक'(1987 ई.) और 'शकुंतला की अंगूठी'(1990 ई.)। 'आधे-अधूरे' के पात्रों के समान ही अधूरेपन का बोध इन दो नाटकों के पात्रों में भी होता है। इन दोनों नाटकों के पात्र-चरित्रों के मध्य भी रिश्तों में कोई ठहराव नहीं दिखता है।

5.5 'आधे-अधूरे' और 'शकुंतला की अंगूठी'

परंपरा और आधुनिकता की दृष्टि से यदि हम 'शकुंतला की अंगूठी' और 'आधे-अधूरे' का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि 'आधे-अधूरे' के समान ही आधुनिक मानव टूटते-बिखरते रिश्तों और उन सबसे उत्पन्न एक अवसाद को 'शकुंतला की अंगूठी' में भी चित्रित किया गया है।

नाट्य-कथानक का प्रारंभ एक रंगसंस्थान 'कुछ न कुछ' द्वारा कालिदास रचित नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के पूर्वाभ्यास से होता है। नाटक के इस पूर्वाभ्यास में 'शकुंतला की अंगूठी' का मुख्य नायक कुमार दुष्यंत के पात्र का अभिनय करता रहता है और कनक शकुन्तला के पात्र का। कनक और कुमार को कुछ ही दिनों के इस पूर्वाभ्यास में इस बात का आभास होता है कि दोनों एक-दूसरे से प्रेम करने लगे हैं और एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हैं,

"कनक: तेरे मन की बात मैं नहीं जानती, लेकिन मेरे मन को रात-दिन प्रेम की ज्वाला बुरी तरह तपाती है।

कुमार: प्रेम की ज्वाला तुम्हें केवल तपाती है। लेकिन मुझे वह पूरी तरह जलाये देती है। चढ़ता दिन चाँद को जिस तरह जलाता है उस तरह कमलिनी को नहीं।"[56]

'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में 'शकुन्तला' के चरित्र को कनक पूर्णतः निभा पाने में खुद को असमर्थ पाती रहती है। इसका मुख्य कारण है कनक के जीवन का वह पूर्व का कटु अनुभव जिसके कारण कनक कुमार के साथ प्रेम-संबंध में जुड़ने के बाद भी प्रथम प्रेम-सा उत्साह महसूस नहीं करती है, क्योंकि कुमार के साथ प्रेम-संबंध में जुड़ने से पूर्व नील के साथ उसका प्रेम संबंध रहता है। जिसमें वह धोखा खा चुकी रहती है। सच्चा प्रेम जैसे शब्द उसके लिए बेईमानी-सा लगता है। जबकि नाटक में कालिदास के नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की ऐसी पात्र शकुन्तला के पात्र-चरित्र का अभिनय करती रहती है, जो बहुत ही सरल स्वभाव की होती है। जिसने दुष्यंत से प्रथम बार निश्छल प्रेम किया था। जिसके प्रेम में निष्ठा और स्थायित्व है। प्रथम प्रेम में ऐसे कटु अनुभव के बाद कनक किस प्रकार शकुंतला के पात्र के साथ सामंजस्य बैठा पाती ? ऐसी स्थिति में वह कुमार के प्रेम को भी संशय की ही दृष्टि से देखती है,

"कुमार: अपने को क्यों जंजीरों में जकड़ रखा है आपने ? अपने को आप ढीला नहीं छोड़ सकती ? दूसरे पर विश्वास नहीं कर सकती ? आपने प्यार नहीं किया कभी ? कालिदास विश्वास करने की सबसे बड़ी कसौटी मानते हैं आँखें। ..क्यों ?

कनक: बात यह है कि एक बार विश्वास करके चोट खा चुकी हूँ मैं।"[57]

आज आधुनिक युग में मानवीय संबंधों में स्थायित्व नहीं रह गया है। प्रेम या किसी भी संबंध का आधार विश्वास होता है। ऐसे में यदि संबंधों के मध्य विश्वास ही खंडित हो जाए तो उस संबंध का धागा कितना मजबूत होगा ? कनक के प्रेम में यह पूर्व अनुभव, उसके चरित्र में अविश्वास पैदा कर देता है। कनक का चरित्र इस सन्दर्भ में 'आधे-अधूरे' की सावित्री के समान प्रतीत होता है। जिस प्रकार सावित्री महेन्द्रनाथ के साथ विवाह के पश्चात् भी महेन्द्रनाथ को अपूर्ण ही मानती है और हर बार पूर्णता की खोज में एक के बाद एक अन्य पुरुषों से जुड़ती है, किन्तु वह कहीं भी किसी भी पुरुष में पूर्णता नहीं पाती है। रिश्ते में उसे स्थायित्व नहीं मिल पाता है। उसी प्रकार कनक भी एक के बाद

एक पुरुष से संबंध तो स्थापित करती है, किन्तु हर बार प्रेम में उसे धोखा ही मिलता है। संबंधों की इस खोज में सावित्री से अलग कनक की ज़िंदगी की विडंबना थोड़ी अलग है। सावित्री महेन्द्रनाथ से विवाह करती है और बाईस वर्ष लगभग उसके साथ चाहे-अनचाहे साथ ही रहती है। जबकि कनक की ज़िंदगी या उसके समकालीन समाज का यह सच कहें जहाँ आज नवयुवकों और नवयुवतियों का एक ऐसा वर्ग उभरा है, जो विवाह जैसे बंधन में बंधना ही नहीं चाहता है। रिश्ते में बंधते तो हैं लेकिन वह रिश्ता क्षणिक होता है। नाटक में कनक को भी सावित्री के समान एक घर की खोज होती है। वह भी विवाह करना चाहती है। घर बसाना चाहती है। कनक प्रतीक है आज की आधुनिक स्त्रियों की, जो विवाह करना चाहती है लेकिन किसी और की शर्तों पर नहीं बल्कि अपनी शर्तों और पसंद से करना चाहती है। तभी वह पहले नील से प्रेम करती है और उससे विवाह करना चाहती है। लेकिन नील कनक से विवाह के सन्दर्भ में विशेष गंभीर नहीं होता है। नील का चरित्र इस सन्दर्भ में देखें तो प्रतीक है उस आधुनिक मानव का जो आज के समाज में विवाह जैसी परंपरा में भरोसा ही नहीं करता है। विवाह को दो लोगों का आत्मीय संबंध न मानकर जरूरत और गैर-जरूरत की दृष्टि से देखता है। तभी वह कनक से विवाह का वादा करके बाद में मुकर जाता है, "नील: मैं यह नहीं कह रहा कि शादी करूँगा ही नहीं। कुछ महीने तुमसे दूर रहकर देखूंगा, महसूस करूँगा कि तुम्हारा साथ मेरे लिए कितना जरूरी है।

कनक: (नर्म क्रूरता से) और ज्यादा जरूरी नहीं पाया गया तो जाहिर है कि शादी का सवाल ही नहीं पैदा होता।

नील: (कड़वाहट से) तुम ठीक समझ रही हो।"[58]

नील आज के उस आधुनिक पुरुष का प्रतिनिधित्व करता है, जो प्रेम और विवाह को अलग-अलग दृष्टि से देखता है। तभी वह कनक से यह दावा तो करता है कि वह उससे प्रेम करता है, किन्तु जब बात विवाह की आती है तब उसकी दृष्टि या विचार बदल जाते हैं और वह आज की भौतिकतावादी

दृष्टि से अपने प्रेम-संबंध को देखने लगता है और कनक के साथ विवाह-संबंध में बंधने के लिए भविष्य में उसकी जरूरत महसूस करना आवश्यक मानता है तथा प्रेम संबंध को आगे वैवाहिक-संबंध में परिवर्तित करने से इनकार कर देता है।

कनक भी नील के हाथों अपमानित होने और उसके साथ संबंध-विच्छेद होने के पश्चात् जीवन में आगे बढ़ जाती है। कनक भी जैसा कि आधुनिक स्त्रियों का ही प्रतिनधित्व करती है। अतः पौराणिक शकुन्तला की भांति वह भोली नहीं है, न ही अपने जीवन की नियति मानकर उसे सहती या आंसू बहती है, बल्कि जीवन में वह भी आगे बढ़ जाती है। सावित्री की ही भांति अपने लिए जीवन में नए विकल्पों को ढूंढने में लग जाती है। सावित्री और कनक के हालात कई बिन्दुओं पर एक से हैं। जैसे दोनों के यहाँ संबंधों में एक तनाव है। अंतर बस इनकी परिस्थितियों में है। सावित्री के रिश्ते में यह अधूरापन विवाह के पश्चात् है और कनक का विवाह से पूर्व। ऐसा प्रतीत होता है जैसे मोहन राकेश ने जिस सावित्री, उसका मध्यवर्गीय परिवार, परिवार के विघटन की कथा, संबंधों का अधूरापन और आधुनिक समाज में लोगों के बीच संबंधों की त्रासदी को प्रकट किया है, वह और भी आगे चलकर विकट हो गई हो। जिसे सुरेन्द्र वर्मा ने आगे चलकर अपने नाटकों में चित्रित किया है। जीवन की विसंगतियाँ इतनी गहरी हो चुकी हैं कि नील, कुमार, कनक की विवाह जैसी परंपरा में कोई विशेष रुचि ही नहीं रह गयी है। इसीलिए कनक भी अपने जीवन को अपनी दृष्टि से देखती है और विवाह के सन्दर्भ में अपनी माँ से तर्क-वितर्क करती है, "माँ : अब नहीं करोगी तब कब करोगी?

कनक : पता नहीं !

माँ : चम्पा और चमेली के तो एक-एक बच्चा भी हो गया।

कनक : मेरी तरफ से चार-चार हो जाएँ।

माँ : रामस्वरूप में तुम्हें कौन-सी बुराई दिखाई देती है।

कनक : जिसमें बुराई दिखाई न दे, उससे शादी कर लो ?"[59]

इस प्रकार कनक भी आधुनिक स्त्री ही है। जो विवाह करने के लिए दो लोगों के बीच समानता का होना आवश्यक मानती है। सावित्री और महेन्द्रनाथ का दाम्पत्य जीवन ऐसा उदाहरण है जिनके विचारों और जीवन शैली में समानता नहीं होने की वजह से ही पूरा परिवार खंडित होता है। पारिवारिक वातावरण में तनाव सा हर समय रहता है। इसीलिए कनक कई पुरुषों के साथ संबंध तो बनाती है, किन्तु उस संबंध के टूटने पर अफ़सोस नहीं जताती है। दो लोगों के बीच के संबंधों में कॉमन होना आवश्यक मानती है, वह शकुन्तला और दुष्यंत के रिश्तों के सन्दर्भ में उदाहरण देते हुए कहती है, "लेकिन भीतरी लगाव के लिए दोनों में कुछ कॉमन भी तो होना चाहिए। कहाँ हिरन के मुंह के घाव से परेशान मासूम लड़की और कहाँ हिन्दुस्तान की पेचीदी बागडोर थामने वाला राजा"[60]

संबंधों में समानता असमानता को टटोलते हुए कनक हो या सावित्री, कहीं न कहीं दोनों का लक्ष्य एक घर की खोज ही होता है। जिसमें हर बार वे असफल ही होती है। यह भटकाव, यह विखंडन ऐसा प्रतीत होता है जैसे आधुनिक मानव की नियति ही हो गई हो। नील के पश्चात् कुमार के साथ संबंध भी कनक का अधिक दिनों तक नहीं चल पाता है। नाटक के पूर्वाभ्यास में ही कनक कुमार को खुद को सौंप देती है। कुमार के पूछने पर कि वह क्या चाहती है ? कनक कहती है,

"कुमार : (कुछ रुककर) तुम क्या चाहती हो ?

कनक : (आवेग में) मैं तुम्हें चाहती हूँ, मैं अपना बच्चा चाहती हूँ, मैं अपना घर चाहती हूँ।"[61]

इस प्रकार देखें तो सावित्री हो या कनक या सावित्री की बड़ी बेटी बिन्नी कहीं न कहीं ये सभी आज की वे आधुनिक स्त्रियाँ हैं जो घर की खोज में सबंध स्थापित करती हैं। लेकिन आज समकालीन समाज का यह भी एक सच है कि व्यक्ति विशेष आंतरिक रूप से इतने द्वंद्व में है कि अपने लिए सही जीवन साथी तय नहीं कर पाता है। आज के यांत्रिक और भौतिकतावादी समय में लोग क्षणिक सुखों के पीछे अधिक भागते हैं। इसीलिए आज का व्यक्ति अन्दर से टूटा हुआ है, खंडित है। द्वंद्वों में घिरा हुआ व्याकुल है। सावित्री के लिए चाहे पति महेन्द्रनाथ हो, जगमोहन हो, जुनेजा हो,

सिंघानियां हो या कनक के लिए उसका प्रेमी नील या कुमार यहाँ सभी यह तय करने में असमर्थ होते हैं कि किसके साथ इनकी ज़िंदगी सफल है। अतः किसी न किसी कारण ज़िंदगी के किसी न किसी मोड़ पर एक-दूसरे को छोड़कर एक नए रिश्ते और एक घर की खोज में भटकते ही रहते हैं।

कनक कुमार से विवाह करना चाहती है, किन्तु कुमार भी कनक को अस्थाई नौकरी का कारण बताकर विवाह नहीं करना चाहता है। किन्तु कनक अपनी स्थाई नौकरी के बारे में कहती है तो कुमार अपने आत्मसम्मान से इसे जोड़कर देखता है और कनक को पीछे गर्भावस्था में ही छोड़कर चला जाता है। जहाँ एक बार फिर कनक अकेली रह जाती है। किन्तु कनक भी शकुन्तला की भांति किसी भी प्रकार का शोक नहीं मानती, वह भी इस आधुनिक समाज का हिस्सा है और उसने भी उन सारे दुखों को पचा लिया है। वह हर परिस्थिति से निपटना सीख चुकी है। इसीलिए कनक भी ऐसी परिस्थिति में इन्तजार नहीं करती, बल्कि ऑपरेशन करवा लेती है। आधुनिक समाज की यह कड़वी सच्चाई बन चुकी है जहाँ स्त्रियों ने भी खुद को बदल लिया है। भारतीय स्त्रियों ने भी परंपरागत जीवन-मूल्यों को त्याग कर आधुनिक जीवन के सभी जीवन-मूल्यों को अपना लिया है। भौतिक सुखों को प्राप्त करने की दौड़ में शामिल हो गई हैं। कनक, सावित्री, बिन्नी, सुरेखा, अलका आदि सभी आधुनिक समाज की प्रतीकात्मक पात्र ही हैं।

इस नाटक में अंगूठी प्रतीक है रिश्ते का, जिसे कनक बार-बार किसी न किसी को पहनाती है और हर बार वह किसी न किसी कारण वापस ले लेती है। कनक भी कुमार से अपनी अंगूठी वापस ले लेती है और सुदर्शन को पहना देती है। सुदर्शन जो सच्चे मन से कनक को अपना लेता है। कनक अपने अतीत के सन्दर्भ में सुदर्शन को बताती भी है, लेकिन सुदर्शन उसे अतीत कहकर अपना लेता है,

"सुदर्शन : मैं आपको हमेशा के लिए अपनाना चाहता हूँ।

कनक : (कुछ रुककर) आप नहीं जानते...मेरा अतीत है।

सुदर्शन : (दुखी मुस्कान से) अतीत तो होता है। फर्क इतना है कि साये कहीं हल्के होतें हैं, कहीं गहरे..हैं।

कनक : अगर मैं कहूँ साये गहरे हैं तो..

सुदर्शन : मैं कोशिश करूँगा कि धुंधले होते जायें।"[62]

इस प्रकार कनक खुद को नियति के भरोसे नहीं छोड़ती है। अपितु हर बार वह धोखा खाने के बाद भी टूटती नहीं है, बल्कि वह भी अपने जीवन में आगे बढ़ जाती है और सुदर्शन से विवाह कर लेती है। इस प्रकार कनक आज की वह आधुनिक स्त्री पात्र है जो ज़िंदगी के हर मोड़ पर निर्णय लेना जानती है। किसी भी हालत में टूटकर नियति या भाग्य के भरोसे नहीं जीती है, बल्कि ज़िंदगी को नए तरीके से, फिर से जीने का प्रयास करती है। अतः कनक और सावित्री आधुनिक स्त्री पात्र होते हुए भी दोनों के बीच का जो एक अंतर है वह यह है कि दोनों ही एक घर की तलाश में भटकती रहती हैं। कनक हर बार विफलताओं के बाद भी टूटती नहीं है। जीवन में तुरंत निर्णय लेती है और आगे बढ़ जाती है। वहीं सावित्री अपने परिवेश में एक-एक करके हर बार चार पुरुषों के साथ जुड़ती है, लेकिन किसी को पूर्ण नहीं पाती है। जिससे वह टूट जाती है और वह फिर एक बार महेन्द्रनाथ के साथ ही जीने के लिए मजबूर हो जाती है, "सावित्री सुखी जीवन के लिए अपने परिवेश में आने वाले चारों पुरुषों को पूरा जानकर उनकी ओर झुकती है, किन्तु वह किसी को पूरा नहीं पाती क्योंकि प्रत्येक पूरा आदमी कई अधूरों में बटा हुआ है। इन अधूरे आदमियों से टकरा-टकरा कर उसका व्यक्तित्व खंडित हो जाता है।"[63]

'शकुंतला की अंगूठी' में कुमार के चरित्र पर दृष्टि डालें तो कुमार का चरित्र एक आधुनिक पुरुष का है। एक ऐसा आधुनिक पुरुष जिसका चरित्र कई आधुनिक विसंगतियों से भरा हुआ है। वह कनक से प्रेम करता है, लेकिन देखें तो महेन्द्रनाथ के समान अपनी जिम्मेदारियों से भागता है। कुमार के चरित्र को देखें तो वह 'आधे-अधूरे' के उन पांच पुरुषों में से कईयों के चरित्र से मिलता-जुलता है।

मोहन राकेश ने आधुनिक समाज की जिन विसंगतियों को अलग-अलग चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है वे सारी विसंगतियाँ कुमार के चरित्र में भी देखी जा सकती हैं। 'आधे-अधूरे' में जिस प्रकार जगमोहन सावित्री के बुलाने पर आता तो है, उसके प्रति साहनुभूति भी रखता है, लेकिन किसी भी तरह वह भावना में नहीं बहता है। वो सावत्री के साथ बंधना नहीं चाहता है। वैसे ही कुमार भी कनक से प्रेम करता है। शकुंतला के सन्दर्भ में उसे श्रेष्ठ बताता है। स्त्री को पुरुष से श्रेष्ठ बताता है। लेकिन खुद के सन्दर्भ में उसकी दृष्टि बदल जाती है। वह विवाह कर जिम्मेदारियाँ नहीं उठाना चाहता है। जिम्मेदारियाँ न उठाकर वह महेन्द्रनाथ के समान ही गैर-जिम्मेदार प्रतीत होता है। कनक को गर्भवती बनाना और स्त्री को सिर्फ अपनी जरूरत की वस्तु के समान समझना उसे सिंघानियां के समान चरित्र वाला भी साबित करता है "कुमार व दुष्यंत की दृष्टि में कहीं कोई अंतर नहीं है। दुष्यंत के लिए शकुंतला मात्र सौंदर्य की प्रतीक व भोग्या थी। कुमार के लिए भी वह इससे बढ़कर कुछ नहीं है।"[64]

जो अधूरापन, द्वंद्व, निराशा, विघटन 'आधे-अधूरे' के अलग-अलग पुरुषों में देखा जा सकता है। वे सारी आधुनिक समाज की विसंगतियाँ कुमार के चरित्र में भी देखी जा सकती हैं। कहने का अर्थ यह है कि आज का इंसान आधुनिक महानगरीय जीवन की कई विसंगतियों का एक जोड़ बन चुका है। आज का आधुनिक मानव कुमार के समान भोगवादी दृष्टि का होता जा रहा है या हो चुका है। आज का मनुष्य एक ऐसी कुत्सित आधुनिक परंपरा का वाहक बन चुका है, जहाँ न रिश्तों में प्रेम है, न स्थायित्व, न भरोसा, न उम्मीद।

इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा कृत नाटक 'शकुंतला की अंगूठी' भी 'आधे-अधूरे' के समान एक आधुनिक नाटक है। जहाँ सभी पात्र प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक मानव के अर्थ को ही व्यंजित करते हैं। कनक नाटक में शकुंतला के पात्र में होती है, जो आधुनिक नारी का ही प्रतीक है। प्रथम प्रेम में नील द्वारा धोखा मिलने पर वह पीड़ित और दुखी होती है, किन्तु टूटकर इसे अपनी नियति का हिस्सा नहीं मानती है और ज़िंदगी में आगे बढ़ जाती है। किन्तु इसके बाद वह हर एक को संदेह की नजर से देखने लगती है। अतः वह जल्दी किसी पर भरोसा नहीं करती है, "कनक जो कि शकुंतला के

पात्र का अभिनय करती है। पूर्णतः आधुनिक नारी का प्रतीक है। जो प्रथम प्रेम में पूर्ण समर्पण के पश्चात् भी स्वार्थी पुरुष के धोखे का शिकार होकर टूटती है, छटपटाती है, पीड़ित व दुखी होती है। कुमार के मिलने पर अपने दुःख को भूलकर एक बार फिर सहारे की खोज में चल पड़ती है।"[65] कनक हो या सावित्री इस भौतिकतावादी युग में स्त्रियों ने भी जीना सीख लिया है। परंपरागत उस आदर्शवादी चरित्र को स्त्रियों ने उतार दिया है। उन्होंने भी अपने निजी सुखों को प्राप्त करने के लिए नये रास्ते ढूँढना सीख लिया है। कनक और सावित्री के परिवेश और समय में अंतर है। कनक का परिवेश और उसकी ज़िंदगी की चुनौतियाँ विवाह से पूर्व की हैं। वह घर और एक पूर्ण रिश्ते की तलाश, विवाह से पूर्व करती रहती है। उसका अकेलापन उसका संघर्ष विवाह से पूर्व का है। किन्तु सावित्री के सामने विवाह के कुछ समय पश्चात् ज़िंदगी अपना यह रूप दिखाती है। रिश्तों में घुटन, उससे बाहर आने की उत्कंठा, अपने लिए अपना कहा जाने वाले घर की खोज, ये सब सावित्री के विवाह के बाद के हालात हैं। कहने का अर्थ यह है कि मोहन राकेश हो या सुरेन्द्र वर्मा दोनों ने कहीं न कहीं आज के आधुनिक समाज और उस समाज में टूटते-बिखरते रिश्तों को दिखाने का प्रयत्न किया है। किसी प्रकार आज विवाह से पूर्व हो या विवाह के पश्चात् रिश्तों के बीच उसमें टकराहट अवश्य है। जिसमें सावित्री हो या कनक वे उसमें पहले खुद जुड़ती भी हैं फिर घुटती भी हैं और फिर सावत्री के जैसे बाहर निकलने का प्रयास भी करती हैं और कनक के समान उस रिश्ते से निकल कर दूसरे रिश्ते से जुड़ जाती हैं।

'शकुंतला की अंगूठी' का पात्र नील और कुमार आधुनिक युगीन स्वार्थी और भोगवादी पुरुषों का प्रतीकात्मक पात्र चरित्र है। 'आधे-अधूरे' के महेन्द्रनाथ के समान ही प्रतीत होता है। जब वह अपनी जिम्मेदारियों से भागता है तो वह सिंघानियां सा भी प्रतीत होता है, जब वह सावित्री या उसकी बेटी बिन्नी को सिर्फ भोगवादी दृष्टि से देखता है तब या जगमोहन के समान उससे हमदर्दी या लगाव तो रखता है, किन्तु किसी भी तरह उससे बंधना या सहारा नहीं देना चाहता है।

इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा के इस यह नाटक का यह कथानक और इसके पात्र कई अर्थो में 'आधे-अधूरे' के कथानक और पात्रों से साम्य रखते हैं। जैसे दोनों ही नाटकों में टूटे खंडित चरित्रों वाले पात्र हैं। आधुनिक विसंगतियों में लिपटे चरित्र और उनके बीच के रिश्तों में असंगति। द्वंद्व, घुटन अकेलापन आदि दोनों ही नाटकों में देखे जा सकते हैं। किंतु जो एक मूल अंतर है, वह है विघटन के स्तर पर। 'आधे-अधूरे से अधिक सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में विघटन है। राकेश के यहाँ थोड़ी बहुत संवेदना या अपनत्व तमाम पात्रों में विसंगतियों के बाद दिख जाता है। लोगों को घर वापसी करते देखा जा सकता है, किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के पात्र मानो पूर्णतः भोगवादी संस्कृति का हिस्सा बन चुके हैं। अतः संवेदना शून्य आधुनिक मानव इनके यहाँ सिर्फ अपने फायदे के लिए ही जुड़ते दिखते हैं। जहाँ आधुनिक विकृत जीवन शैली ने अपना प्रभाव अधिक बना रखा है।

5.6 'आधे-अधूरे' और 'एक दूनी एक'

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में जो अगला नाटक है वह है 'एक दूनी एक' इसका शीर्षक अपने आप में अकेलेपन के अर्थ को व्यंजित कर रहा है। अकेलापन, जिससे मोहन राकेश के नाटकों के लगभग सभी पात्र चरित्र जूझते रहते हैं। चाहे वह कालिदास हो, मल्लिका हो, नन्द या सुंदरी हो या 'आधे-अधूरे' का महेन्द्रनाथ, सावित्री, बिन्नी, किन्नी या अशोक आदि कोई भी हो। उसी प्रकार 'एक दूनी एक' नाटक के पात्र 'औरत' और 'आदमी' दोनों ही इस अकेलेपन से गुजरते रहते हैं। सुरेन्द्र वर्मा के इस नाटक के पात्रों का अकेलापन, चरित्र और अधिक विघटित दिखता है। यह नाटक उत्तर-आधुनिक समय के नारी-पुरुष के मध्य अनैतिक संबंध को व्याखायित करता है। यह नाटक 'एक दूनी एक' अकेलेपन का त्रास झेल रहे स्त्री-पुरुष के जीवन को ही चित्रित करता है। इस नाटक में जिस औरत और पुरुष का चित्रण किया गया है, उनकी बातचीत से उनकी भाषा से यौन-संबंधों, यौन-कुंठाओं का बोध होता है। नाटक में जिस एक संबंध के माध्यम से आज के मनुष्य के विघटित चरित्र का बोध हो रहा है वह है शारीरिक संबंध। इस नाटक में पात्रों के बीच भावनाओं का स्थान समझौते ने ले लिया है। जैसा कि हम जानते हैं मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में कथानक

से अधिक पात्रों, परिस्थितियों तथा द्वंद्वों का ही महत्त्व स्थापित रहा है। उसी कड़ी में 'एक दूनी एक' नाटक भी है जिसमें कथानक से अधिक पात्रों, परिस्थितियों तथा द्वंद्वों का महत्त्व है। इस नाटक का कथानक भी आधुनिक उच्च मध्यवर्गीय महानगरीय जीवन को ही चित्रित करता है। जिसमें 'स्त्री स्वर', 'पुरुष स्वर', 'कम्पूटर','औरत' और 'आदमी' हैं। साथ ही कुछेक एक ऐसे पात्र हैं जो विवाह के पश्चात् अपने जीवन-साथी के भ्रष्ट चरित्र से परेशान है।

नाटक में सभी पात्रों के किसी न किसी के साथ अनैतिक संबंध स्थापित होते हैं। नाटककार आज के उस उत्तर-आधुनिक समाज को दिखाना चाहता है, विशेषकर उच्च मध्यवर्गीय परिवार को जिसमें लोग विवाह तो करते हैं, लेकिन विवाह के पश्चात् दाम्पत्य जीवन के मूल नियमों और अर्थों में विशेष रुचि नहीं रखते हैं। तभी आज का आधुनिक मनुष्य स्वछन्द रूप से एक से अधिक लोगों से संबंध बनाता है, "उच्च मध्यवर्गीय परिवार के व्यक्ति विवाह संबंध के बावजूद किसी एक के साथ बंधकर रहना नहीं चाहते। वे विवाह करते हैं, लेकिन विवाह संस्था के नियमों एवं उसूलों का पालन करना उन्हें गवारा नहीं। वे इस 'विवाह-संस्था' की आड़ में उन्मुक्त यौन-संबंध बनाते हैं और इसके लिए उन्हें न कोई ग्लानि है और न ही पश्चाताप।"[66] 'एक दूनी एक' नाटक में भी अन्य पुरुष के साथ रूपेश बंसल की पत्नी का, रीता वाचानी के साथ पूनम नारंग के पति मनोज का अनैतिक सबंध होता है। इसके अलावा नाटक के मुख्य पुरुष पात्र 'आदमी' के संबंध में कई स्त्रियों जैसे पायल, सपना, बीना, राजहंसिनी या गाल के गड्डे वाली से होता है। नाटक में दिखाया गया है कि इन सभी को किसी न किसी मौके की तलाश होती है। अलग-अलग जगहों पर यह इस तरह से अपने ज़मीर को मारकर इस तरह के संबंध बनाते हैं। आज के ऐसे उच्च-मध्यवर्गीय लोग अपनी परंपरा और मर्यादाओं से दूर हो चुके हैं। संवेदना शून्य हो चुकी है। 'आधे-अधूरे' नाटक में सावित्री का महेन्द्रनाथ से या बिन्नी का मनोज से वैचारिक मतभेद क्यों नहीं दिखाया गया हो या उनके रिश्ते में तनाव कितना भी क्यों न हो, रिश्तों के इस द्वंद्व में शारीरिक क्षति की कामना किसी को करते नहीं दिखाया गया है। किन्तु 'एक दूनी एक' नाटक में बिन्नी अपने और मनोज के संबंध में घुली कड़वाहट या नफरत भरी

भावना के संबंध में कहती है, "मन करता है... मन करता है आसपास की हर चीज को तोड़-फोड़ डालूं। कुछ ऐसा कर डालूं जिससे उसके मन को कड़ी-से-कड़ी चोट पहुँचा सकूँ। उसे मेरे लंबे बाल अच्छे लगते हैं। इसीलिए सोचती हूँ, इन्हें जाकर कटा आऊं।... कुछ भी ऐसी बात जिससे एक बार तो वह अन्दर से तिलमिला उठे।"[67] नाटक में रिश्तों के मध्य द्वंद्व, कड़वाहट, नफरत इस हद तक बढ़ चुकी है कि नाटक का एक पात्र 'पुरुष स्वर' मानवता की सारी हदें भूलकर अपनी पत्नी की हत्या तक के बारे में सोच लेता है। नाटक के एक अंश में वह कहता है, "अगर आप बाहर हम दोनों को साथ-साथ देखें तो आप यही सोचेंगे, कितना सुखी जोड़ा है। मेरे मित्र, संबंधी, माता-पिता, मैं ..आप से क्या छिपाऊं। मैंने बरसों इंदुमती की हत्या करने की योजना बनाई है। गंडासे के बारे से एक पल में आजादी, बर्सोवा समुन्द्र-तट पर पानी में गला घोंट देना, रसोईघर में मिट्टी का तेल छिड़क कर झुलसाती लपटों से ठंडक पाना, एक बार तो चूहे मारने की दवा चाय में मिलाकर प्याला उसे लगभग थमा ही दिया था।"[68] इस प्रकार 'एक दूनी एक' के उच्चमध्यवर्गीय परिवार में रिश्तों के मध्य विघटन, 'आधे-अधूरे' की तुलना में अपनी अधिक विकृत स्थिति में है। यहाँ प्रेमय आत्मीय न होकर शारीरिक है। उन्हें या तो शादी जैसी प्रथा पसंद ही नहीं है या प्रेम की आड़ में स्वछंद यौनाचार ही उनकी आखिरी इच्छा होती है और किसी भी परिस्थिति में विवाह कर भी लिया तो वहाँ अपनत्व, भरोसा, प्रेम आदि नदारत ही रहते हैं। नाटक का मुख्य पात्र 'आदमी' कई स्त्रियों के साथ शारीरिक संबंध बनाता है, किन्तु जब बात आती है विवाह की तब वह हर बार मुकर जाता है। नाटक की प्रमुख स्त्री पात्र 'औरत' भी प्रेम में कई बार धोखा खा चुकी रहती है। उसके प्रेमी ने भी उसे मात्र भोगने की वस्तु समझकर उसे इस्तेमाल किया और फिर विवाह के लिए इनकार कर दिया। मूलतः नाटककार ने इन सभी चरित्रों के माध्यम से उत्तर-आधुनिक मनुष्यों के चरित्र को प्रस्तुत किया है, जहाँ इनके लिए विवाह उनकी आज़ादी पर अंकुश है। नाटक के सभी पात्र प्रतीक हैं आज के उत्तर-आधुनिक मनुष्यों के जो अपनी मूल भारतीय परंपरा को पिछड़ा हुआ मानते हैं और पश्चिम की परंपरा और संस्कृति से प्रभावित विवाह से पूर्व और विवाह के पश्चात् कई अनैतिक संबंध बनाते हैं।

सुरेन्द्र वर्मा और मोहन राकेश के नाटकों में ऐसे कई पहलुओं को देख सकते हैं। जैसे स्त्री मनोविज्ञान के कई पहलूओं से हम रूबरू होते हैं। सुरेन्द्र वर्मा के नाटक में 'औरत' के चरित्र में आधुनिकता है, उसकी तुलना मोहन राकेश के नाटकों की स्त्रियों से करें तो पाते हैं कि 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका के चरित्र में परंपरागत चरित्र भी है और आधुनिक चरित्र भी। वक्त के साथ मल्लिका ने भी जीना सीख लिया है। कालिदास के प्रति त्याग और समर्पण की भावना रखने के बाद भी एक वक्त के बाद वह कालिदास का इंतजार नहीं करती है। जब ज़िंदगी में उसे किसी के सहारे की जरूरत होती है तब वह विलोम से शादी कर लेती है। ऐसे में उसका आधुनिक चरित्र उभरकर आता है। अतः कह सकते हैं कि उसके चरित्र के दो पक्ष हैं, एक परंपरावादी और एक आधुनिक। 'लहरों के राजहंस' की सुंदरी रूपगर्विता है और अपने आकर्षण से वह अपने पति नन्द को बाँधकर रखना चाहती है। उसके चरित्र का आधुनिक पक्ष यह है कि वह सिर्फ सुन्दर ही नहीं है, बल्कि उसमें आधुनिक स्त्री के सभी गुण भी हैं, जैसे वाक् चातुर्य, बुद्धि कौशल, ओज, आदि। इसके अतिरिक्त उसमें दया और स्नेह भी है। तभी अपनी दासी को एक सखी के समान मानती है और अलका के प्रेमी श्यामांग की सजा को अलका के अनुरोध पर माफ़ कर देती है। अतः उसके चरित्र में आधुनिकता होते हुए भी स्नेह, दया जैसे गुण हैं। 'आधे-अधूरे' में सावित्री के चरित्र को देखें तो अपने घर के प्रति उसकी चिंता, उसके चरित्र के परंपरावादी रूप को व्यंजित करता है। किन्तु जब वह महेन्द्रनाथ के साथ खुश नहीं रह पाती है और अपने निजी सुखों की चाह करती है, जिसमें वह कई पुरुषों से जुड़ती है तब उसका आधुनिक चरित्र उभरकर सामने आता है। कहने का अर्थ यह है कि कमोबेश मोहन राकेश के नाटकों के स्त्री पात्रों के चरित्र में आधुनिकता के लक्षण तो हैं ही, किन्तु उनके चरित्र में परंपरागत संस्कार भी जीवित हैं, ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों को देखें तो कई ऐसे नाटक हैं जिनके स्त्री पात्र आधुनिक नहीं उत्तर-आधुनिक हैं। जिनकी भारतीय परंपरागत मर्यादाओं, संस्कारों और मूल्यों में कोई आस्था नहीं है। 'शकुंतला की अंगूठी' की मुख्य स्त्री पात्र 'कनक' इसका उदाहरण है,- विवाह से पूर्व एक से अधिक पुरुषों के साथ प्रेम और शारीरिक संबंध

बनाती है। विवाह से पूर्व गर्भ भी धारण कर लेती है, किन्तु इसके बावजूद भी जीवन में टूट कर हार नहीं मानती है। पुनः सुदर्शन नाम के पुरुष का दामन थाम लेती है और उससे विवाह कर लेती है। 'एक दूनी एक' नाटक की मुख्य स्त्री पात्र 'औरत' के चरित्र में भी उत्तर-आधुनिकता देखी जा सकती है। जहाँ उसके चरित्र में विशेष संवेदना नहीं दिखती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे परंपरागत जीवन-मूल्य उसके चरित्र का हिस्सा रहा ही न हो। वह भी नाटक के 'पुरुष-स्वर' के समान ही अपने गुस्से भरे मनोभाव को प्रकट करते हुए अपने पति से घृणा भरे शब्द कहती है, "मैं सुबह और शाम, दोपहर और रात-आठों पहर, हर घड़ी तुम्हें कोसूंगी, पानी-पी-पीकर काली गालियाँ दूंगी। तुम्हें पलभर के लिए चैन नसीब न हो...अपने इस आठ फुट सौ फुट के बियावान में तुम एड़ियां रगड़-रगड़कर मरो, महीनों तुम्हारी लाश यहाँ सड़ती रहे, मीलों दूर से लोग इस डर से भागने लगें कि कहीं तुम्हारी जहरीली हवा छू गई तो आने वाली पीढ़ियों को पलभर की ख़ुशी भी नशीब नहीं होंगी।"[69]

इस प्रकार 'एक दूनी एक' नाटक एक उच्च मध्यवर्गीय समाज के स्त्री-पुरुष के चरित्र को व्याख्यायित करता है। जिसमें प्रेम, प्रेम में धोखा, विवाह से पूर्व और विवाह के पश्चात् अनैतिक संबंध, विवाह के प्रति अनास्था, स्वछंद कामुकता आदि को विस्तार पूर्वक चित्रित किया गया है। वहीं मोहन राकेश के नाटकों के चरित्रों की तुलना में इसके सभी पात्र चरित्र उत्तर-आधुनिक समाज और परिवार के हैं। जिनका चरित्र भ्रष्ट है और जीवन में अकेलापन है। वैवाहिक जीवन के प्रति कोई विशेष आस्था नहीं है। संवेदनहीन इनका चरित्र द्वंद्व से घिरा हुआ है, जिसमें वह एक नहीं कई के साथ संबंध स्थापित करते हैं और तोड़ते हैं। उत्तर-आधुनिक काल में इनका जीवन संवेद- शून्य एक यांत्रिक जीवन बनकर रह गया है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

मोहन राकेश का आखिरी नाटक है 'पैर तले की जमीन' किन्तु अधूरा है। असमय मृत्यु के कारण इस नाटक को वह पूरा नहीं कर पाए जिसे बाद में उनके मित्र कमलेश्वर ने उनकी नोटिंग के आधार पर पूरा किया था। इस नाटक का मूल भाव समझने का प्रयत्न करें तो इस नाटक में आसन्न मृत्यु के समय व्यक्ति की जो मनोदशा हो सकती है, उसे प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही आज

के आधुनिक मनुष्य के आंतरिक संघर्ष, द्वंद्व, अकेलेपन, भोगवादी दृष्टिकोण आदि को दिखाने का प्रयत्न था, जिसे कमलेश्वर ने कमोबेश पूरा किया है। मोहन राकेश इस नाटक को स्वयं पूरा करते तो न जाने आधुनिक जीवन के कौन से नए पहलुओं को प्रस्तुत करते। किन्तु उपलब्ध नाटक के कथानक को देखें तो यह उच्चवर्ग के कुछ चंद लोगों की ज़िंदगी के आस-पास घूमता है, जो कश्मीर से कुछ दूर स्थित दो द्वीपों के बीच एक क्लब हाउस में अपनी ज़िंदगी के सुखों को भोगने में लिप्त रहते हैं। अचानक वहाँ नदी में बाढ़ आ जाती है जिससे वे सभी वहाँ से निकल नहीं पाते हैं और फंस जाते हैं। बाढ़ के रूप में पल-पल उनकी ओर मौत आगे बढ़ती रहती है। ऐसे विकट समय में किसी को यह नहीं समझ आता कि क्या करें और क्या न करें। ज़िंदगी की आखिरी घड़ी सबको नजर आने लगती है। ऐसे हालात में वहाँ मौजूद सभी का असल वजूद निकल कर सामने आता है। इन आखिरी पलों में सभी अपने-अपने तरीके से जीना चाहते हैं जिससे उनके अन्दर का कुत्सित चरित्र उभरकर बाहर आता है। मोहन राकेश के इस नाटक के नोट्स और स्केच देखे तो नाटक का मूल उद्देश्य किसी एक हद तक स्पष्ट हो जाता है, "चरित्रों को यथार्थवादी नाम दिये जायें; पर वे हमारे संस्कारों के अंग हों। चरित्रों की कोटियाँ कुछ इस प्रकार की हों :

(1) असंतुष्ट लोग जो ठोकर मारना चाहेंगे।

(2) उदास-हताश लोग जो आत्महत्या करना चाहेंगे।

(3) भ्रष्ट लोग जो अब भी कोई रास्ता निकालने की बात सोचेंगे।

(4) चापलूस लोग जो सबसे सहमत होंगे।"[70]

इस प्रकार यह बोध होता है कि मानव के चरित्रों के इन चार अवगुणों से मोहन राकेश आधुनिक जीवन की कई विसंगतियों को समेटकर इस नाटक के माध्यम से चित्रित करना चाहते थे। इस नाटक में भी मोहन राकेश ने नाट्य-कथानक से अधिक चरित्रों को ही महत्त्व दिया है। इस नाटक के सभी पात्रों की विशेष हैं उनकी एक विशेष भूमिका है। उपरोक्त चार बिंदु निम्नलिखित चारों मानवीय

चरित्रों के अवगुणों को ही प्रस्तुत करते हैं। नाटक में अयूब, सलमा, अब्दुल्ला , झुनझुनवाला, पंडित, रीता, नीरा आदि कुछेक पात्र-चरित्रों के माध्यम से उच्चवर्ग के लोगों की जीवन शैली और उनके खंडित जीवन को ही प्रस्तुत किया गया है।

5.7 'पैर तले की जमीन', और 'द्रौपदी', 'एक दूनी एक', 'शकुंतला की अंगूठी'

'पैर तले की जमीन' का कथानक उच्चवर्ग के लोगों के इर्द-गिर्द घूमता है। इस नाटक के कथानक की तुलना सुरेन्द्र वर्मा के जिन नाटकों के कथानकों से की जा सकती है वे हैं, 'द्रौपदी' (1972), 'एक दूनी'(1987) और 'शकुंतला की अंगूठी'(1990)। सुरेन्द्र वर्मा के इन तीनों नाटकों के पात्र-चरित्र उच्च -मध्यवर्गीय लोग हैं। 'पैर तले की जमीन' के अयूब का चरित्र 'द्रौपदी' नाटक के मनमोहन 'एक दूनी एक' के आदमी और 'शकुंतला की अंगूठी' के कुमा के समान ही प्रतीक है, उस आधुनिक पुरुष के प्रतीक प्रतीक हैं जो स्त्री को भोगवादी दृष्टि से देखता है। विवाह जैसी संस्था में इनकी कोई विशेष रुचि नहीं होती है। यदि विवाह कर भी लिया तो दाम्पत्य जीवन की मर्यादा को कभी नहीं निभाते हैं और कई स्त्रियों के साथ अनैतिक संबंध स्थापित करते हैं। अयूब जहाँ उच्चवर्ग से संबंध रखता है वहीं मनमोहन, आदमी, तथा कुमार उच्च-मध्यवर्ग से हैं। कहने का अर्थ यह है कि यह आधुनिक युगीन चारित्रिक विघटन भारतीय समाज में कहें तो उच्च वर्ग से धीरे-धीरे अपने नीचे के समाज को भी प्रभावित करता चला गया, जैसे-जैसे उच्चमध्यवर्ग की ओर बढ़ता गया आज के समकालीन समाज में शायद मध्यवर्गीय परिवार तक इसकी विसंगति फैल चुकी है। अयूब प्रतीक है उस आधुनिक मनुष्य का जिसे मनुष्य की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता है। नाटक में वह नशे की हालत में अपने से कई साल छोटी लड़की नीरा और रीता के साथ जबर्दस्ती करना चाहता है। जबकि उस पल उसकी पत्नी सलमा भी उसके नजदीक होती है, किन्तु नशे की हालत में वह मानव से दानव हो जाता है और कहता है, "अयूब : कहाँ है .. कहाँ है वह छोटी लड़की !

सलमा : (उसे पकड़ लेती है) होश में आओ... मैं कहती हूँ होश में आओ...

अयूब : मैं होश में हूँ सलमा .. बिल्कुल होश में... दरिया में बह जाने से पहले एक बार .. पानी यहाँ तक (गले तक) बढ़ आने से पहले एक बार मैं उसके भोलेपन के साथ ..उसकी इन्नोसेंस के साथ...

रीता : मुझे तुम्हारे इन इरादों से नफरत है...

अयूब : नफरत, तुम्हें .. तुम्हारा मेरा कोई रिश्ता नहीं.. सिवा उन अधूरे लम्हों के .. और नफरत का सवाल बिना रिश्तों के नहीं उठता .. और रिश्ते कायम होते देर लगती है। (रीता की बांह पकड़ता है) पर अब इस मौत के साये में कुछ रिश्ते तय होकर रहेंगे..."[71]

इस प्रकार अयूब का चरित्र एक ऐसे उच्चवर्गीय व्यक्ति का है जो हर एक परिस्थिति में अपने स्वार्थ के बारे में ही सोचता है। उसके लिए मानवीयता, दूसरे के प्रति सम्मान, प्रेम, आदर एक बेईमानी चीज होती है। अतः वह हरेक चीज को भोगवादी-दृष्टि से ही देखता है। तभी वह जीवन के इस पल में, जहाँ मौत बाढ़ के रूप में क्लब के बाहर तक पहुँच चुकी है, ऐसी परिस्थिति में भी उसके अन्दर काम के प्रति उसकी लालसा कम नहीं होती है, जिसमें वह क्लब में मौजूद छोटी लड़की नीरा और रीता को अपनी हवस का शिकार बनाना चाहता है। ऐसे में सवाल उठता है कि क्या ज़िंदगी में ऐसी अकस्मात मृत्यु सामने देखने पर इंसान का ऐसा चरित्र उभरकर सामने आ सकता है ? आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व का यह कुत्सित चरित्र शायद हो सकता है तभी मोहन राकेश या कमलेश्वर जैसे साहित्यकार ऐसे आधुनिक मानव की मनःस्थिति को चित्रित करते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज का धीरे-धीरे झुकाव या आकर्षण पाश्चात्य जीवन शैली की ओर होता चला गया। इसी आकर्षण में बंधकर उच्चवर्ग के लोगों का अपनी भारतीय परंपरा के प्रति मोह खत्म होता चला गया। जिसमें लोगों का जीवन यांत्रिक होता चला गया और भौतिक सुखों को प्राप्त करने की होड़ में पारिवारिक संस्था टूटती और बिखरती चली गयी। हर एक व्यक्ति अपने जीवन के सुखों की तलाश में घर से बाहर भटकने लगा है। घर में रिश्तों की अहमियत कम होती चली गई और लोग घर से बाहर क्षणिक सुखों के लिए अनैतिक संबंध बनाने लगे। मोहन राकेश और सुरेन्द्र

वर्मा ने अपने नाटकों के माध्यम से महानगरों में रहने वाले आज के मध्यवर्ग, उच्चमध्यवर्ग और उच्चवर्ग के इन्हीं लोगों के विघटित जीवन को बड़ी बेबाकी से चित्रित किया है। 'द्रौपदी' नाटक के मनमोहन के कई चरित्र हैं। वह अपनी पत्नी से अब विशेष लगाव नहीं रखता है, वह तर्क देता है कि अब उसमें वह ताजगी और नयापन नहीं रह गया है। वह कहता है, "साल पर साल बीतते गये। मैं वहीं था। सुरेखा वहीं थी। लेकिन सैकड़ों बार उन्हीं सुबहों और शामों और रातों को जीने के बाद अब सब कुछ बासी हो गया था।"[72] अयूब भी अपनी पत्नी सलमा के प्रति प्रेमभाव नहीं रखता। अपनी पत्नी उसे कब्रिस्तान लगती है। तभी वह उसमें कोई रुचि नहीं लेता है। आधुनिक समाज में उच्चवर्ग का यह एक कटु-सत्य बन चुका है जहाँ दाम्पत्य जीवन के बीच का सामंजस्य समाप्त हो चुका है। अयूब अपनी पत्नी सलमा से कहता है, "ओह ! वह बड़ी लड़की रीता ! वह भी तुम्हारी ही तरह एक कब्रिस्तान बन चुकी है ..क्योंकि उसका भोलापन, उसकी इन्नोसेंस भी मर चुकी है.. जिसके बाद आदमी-औरत के भीतर सब कुछ दफ़न होता जाता है.. कुछ भी भीतर से नहीं फूटता।"[73] 'एक दूनी एक' का 'आदमी' और 'शकुंतला की अंगूठी' का कुमार भी अयूब के समान ही अपनी पत्नी और अपनी प्रेमिका से एक वक्त के बाद लगाव नहीं रखता है और उसका साथ छोड़ देता है या उनके संबधों में अधिक घनिष्ठता नहीं रह जाती है।

'पैर तले की जमीन' में, 'झुनझुनवाला' और 'पंडित' महानगरीय भौतिक जीवन के दो ऐसे पात्र हैं जो भागते ही रहते हैं। दूसरों से आगे निकलने और आधुनिक जीवन में उपलब्ध सुखों को प्राप्त करने के लिए वे भागते ही रहते हैं। जीवन में तमाम प्रपंचों के बीच गलत तरीके से धन अर्जित करते हैं और उसका उपभोग करते हैं। इन दोनों पात्रों की तुलना करें तो 'द्रौपदी' नाटक में मनमोहन की पीले नकाबधारी से की जा सकती है, जो महानगरीय जीवन में भौतिक सुखों को अर्जित करने के लिए सदेव भागता ही रहता है, "मनमोहन का पीला नकाबधारी रूप उस महानगरीय भौतिक सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें आदमी भागता है। भागना-दौड़ना ही जैसे उसकी नियति बन जाती है, वह दूसरों से आगे निकलना चाहता है। वह चाहता है कि दौड़ में हमेशा अव्वल रहे जिससे कि

वह महत्त्वपूर्ण, रौबदार पद पा सके ।"[74] झुनझुनवाला अपने सन्दर्भ में स्वयं नाटक में कहता है, "सीधे-सीधे कहूँ तो सबको अपना व्यापार बनाया। इसका दाम इतना। उसका दाम उतना। हर चीज, हर बात का प्रतिनिधि मैं था। मैं सबसे बड़ा मछलीमार था जिसके कारखाने में बड़ी-बड़ी मछलियाँ डब्बों में बंद की जाती थीं। बड़ी-से बड़ी व्हेल मछली के लिए मैंने चारा ईज़ाद किया।"[75]

इस प्रकार देखें तो झुनझुनवाला, पंडित और मनमोहन का पीला नकाबधारी सभी आधुनिक समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व ही कर रहे हैं जो पद-प्रतिष्ठा, और धन अर्जित करने के लिए तथा भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए भागते ही रहते हैं। साथ ही उसके लिए कई गलत तरीकों को अपनाते हैं। बस अन्तर है तो वर्ग का। झुनझुनवाला और पंडित एक उच्च वर्ग से संबंध रखते हैं और मनमोहन अर्थात् उसका पीला नकाबधारी उच्च मध्यवर्ग से संबंध रखता है। अतः भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए आज के इस आधुनिक युग में हरेक वर्ग के लोग भाग-दौड़ रहे हैं। इस भागती-दौड़ती ज़िंदगी में पीछे वे न अपने परिवार को समय देते हैं, न उनके प्रति लगाव होता है और न ही प्रेम।

अतः 'पैर तले की जमीन' नाटक लिखकर मोहन राकेश आधुनिक मानव का मृत्यु के समक्ष अस्तित्व बताना चाहते थे तथा मृत्यु के समीप आधुनिक मनुष्य की नैतिकता, सामाजिक दायित्व, वर्जनाओं तथा स्त्री-पुरुष के बीच के संबंधों का एक चित्र खींचना चाहते थे। वे आज के आधुनिक मनुष्य, ख़ासकर उच्च वर्ग के लोगों की ज़िंदगी और रिश्तों के प्रति उनका नजरिया, उनकी कुंठाओं, उनका द्वंद्व, रिश्तों के बीच की टकराहट आदि को चित्रित करना चाहते थे।

सुरेन्द्र वर्मा के दो और ऐसे नाटक जिनका कथानक और पात्र मिथकीय ऐतिहासिक हैं, वे हैं 'नायक खलनायक और विदूषक' और 'कैद-ए-हयात'। 'नायक खलनायक और विदूषक' नाटक के परिवेश का संबंध गुप्तकाल से है और 'कैद-ए-हयात' का संबंध 'उर्दू के महान शायर मिर्ज़ा ग़ालिब से है। दोनों ही नाटकों में एक कलाकार एवं साहित्यकार के जीवन-संघर्ष को, उसके जीवन के द्वंद्व

को तथा कलाकार के रूप में अपनी अस्मिता निर्माण के लिए संघर्षरत कलाकार के जीवन को दिखाया गया है। किन्तु इन दोनों नाटक की जो विशेषता है वह यह है कि ये आज के आधुनिक समकालीन कलाकार और साहित्यकार के जीवन-संघर्ष को भी चित्रित करते हैं।

5.8 'आषाढ़ का एक दिन' और 'नायक खलनायक विदूषक'

'नायक खलनायक विदूषक' का पात्र कपिंजल है। नाटक में कपिंजल रंग विधा में स्नातक है, किन्तु उसके पास कोई रोजगार नहीं है। कुछ समय भटकने के पश्चात् उसे नीलनगर की राजकीय नाट्यशाला में अभिनेता का कार्य मिल जाता है। कुछ समय पश्चात् नगर में और नगर से बाहर भी उसकी ख्याति एक अभिनेता के रूप में भी काफी हो जाती है। इस सन्दर्भ में कपिंजल स्वयं कहता है, "मैं दो क्षणों के लिए मंच पर आने वाला कलाकार नहीं, एक महत्त्वपूर्ण अभिनेता हूँ और मेरी ख्याति नीलनगर की सीमाएं पार कर चुकी हैं। स्वयं सेनापति शक्तिभद्र ने अपनी जीह्वा से..."[76] कपिंजल हर बार नाटक में विदूषक का ही पात्र करता रहता है। जिससे वह ऊब जाता है। वह अन्य पात्रों का चरित्र अभिनय कर अपनी प्रतिभा को और निखारना चाहता रहता है। किन्तु चयन की यह स्वतंत्रता उसके पास नहीं होती है, जिससे हर बार वह दूसरों द्वारा एक ही पात्र के रूप में चयनित होने के लिए अभिशप्त रहता है। एक कलाकार के रूप में अपनी अस्मिता निर्माण की इस प्रक्रिया में वह द्वंद्व में 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास के समान प्रतीत होता है। जिस प्रकार कालिदास अपने प्रांत, अपनी प्रेमिका और राजकीय कवि-प्रतिष्ठा के मध्य चयन के सन्दर्भ के द्वंद्व में फंसा रहता है। उसी प्रकार कपिंजल भी द्वंद्व में रहता है। कपिंजल भी कालिदास की भांति अपनी कला-प्रतिभा को जीवन की गतिशीलता और जीवंतता देना चाहता है। परंतु हर बार उसका शोषण होता है। कभी राज्य के नाम पर, कभी धर्म के नाम पर और कभी कला के नाम पर। अतः उसमें एक आधुनिक मानव और कलाकार की विवशता दिखती है, जो समझौतावादी हो जाता है। मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास और 'नायक खलनायक और विदूषक' नाटक के कपिंजल के चरित्र की तुलना करें तो दोनों ही आधुनिक मानव और आज के समकालीन रचनाकार और कलाकार के

जीवन संघर्ष को ही निरूपित करते हैं। गिरीश रस्तोगी अपनी पुस्तक 'मोहन राकेश और उनके नाटक' में लिखती हैं, "वस्तुतः यह आधुनिक मानव की विवशता, उसके अंतर्द्वंद्व का, उसकी जटिलता का नाटक है। कालिदास के माध्यम से वर्तमान स्थिति पर बल देते हुए राकेश ने दिखाना चाहा है कि एक सृजनशील कलाकार किस तरह व्यवस्था द्वारा कुचला और तोड़ दिया जाता है। आज के मूल्यबोध से युक्त असाधारण कवि या साहित्यकार न व्यवस्था को एकदम छोड़ पाता है और न उससे समझौता करते हुए चल पाता है। कालिदास का अंतर्द्वंद्व और टूटन आज के साहित्यकार का द्वंद्व और पीड़ा है।"[77] नायक खलनायक विदूषक' का 'कपिंजल' भी कालिदास के समान एक सृजनशील कलाकार है। वह अपने अभिनय की प्रतिभा को और भी दूसरे पात्र चरित्रों का अभिनय कर उसे गतिशीलता देना चाहता है। लेकिन व्यवस्था के हाथों वह भी विवश है, सिर्फ विदूषक के पात्र का अभिनय करने के लिए। जिस प्रकार कालिदास को एक कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए सत्ता से जुड़ना ही पड़ा, उसी प्रकार कपिंजल के अभिनय को एक पहचान राजकीय नाट्यशाला से जुड़कर ही मिली थी। अतः वह भी कालिदास के समान द्वंद्व में रहता है। कपिंजल न ही व्यवस्था को एकदम ही छोड़ सकता था और न ही उससे समझौता करके चल पाता है। अतः कालिदास और कपिंजल दोनों ही आज के आधुनिक युगीन कलाकार और एक रचनाकर के प्रतीक हैं जो सत्ता द्वारा शोषित हैं। वे न तो सत्ता के साथ समझौता करने की स्थिति में होते हैं और न ही सत्ता को छोड़कर अपने वास्तविक कार्य अर्थात् अपनी कला के प्रति ईमानदार रह पाते हैं। अंततः सत्ता के निर्देशानुसार ही अपने कला का प्रदर्शन करने के लिए बाध्य रहते हैं। कपिंजल अपनी इसी बाध्यता और मज़बूरी के सन्दर्भ में नाटक में कहता है, "और अब राज्य के लिए है। फिर कल के दिन कोई धर्मगुरु आ जाएगा तो धर्म के लिए होगा। फिर परसों के दिन कहीं का नाट्याचार्य आ जाएगा तो कला के लिए होगा। ..(आवेश में) यह दुष्चक्र कभी नहीं टूटेगा।"[78] दअरसल सदियों से लेकर आज तक इस आधुनिक युग में कलाकार और एक रचनाकर के समक्ष आर्थिक संकट हमेशा से रहा है। कालिदास और कपिंजल अपने संघर्ष के आरम्भिक दिनों में एक कलाकार और

एक रचनाकार के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए सत्ता से जुड़ते हैं। किन्तु सत्ता से जुड़ने के बाद वे पाते हैं कि उनकी अपनी कला की निजता छिन गई है, अपनी जिस कला और रचना को जो गतिशीलता और जीवंतता वे सत्ता से जुड़कर देना चाहते थे, वे नहीं दे पाते हैं। दोनों की परिस्थितियों में बस अन्तर यह होता है कि कालिदास सत्ता से जुड़कर भी और सत्ता के शीर्ष पर बैठकर भी वह यह महसूस करता है कि सत्ता का क्षेत्र उसके रचना क्षेत्र से अलग था, तभी वह अंततः अपनी भूमि लौट आता है, किन्तु वहाँ पूर्व जैसी परिस्थितियाँ नहीं रह जाती हैं। कालिदास कहता भी है, "अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी।"[79] और कपिंजल सत्ता से जुड़ता है, उसकी कला को गतिशीलता भी मिलती है। किन्तु एक समय के बाद वह सत्ता के लिए मनोरंजन का साधन मात्र बनकर रह जाता है। इसीलिए वह व्यवस्था का प्रतिरोध करता है। वह अपने लिए रूढ़ हो गए विदूषक का अभिनय करने से इनकार करता है। किन्तु 'पुष्पभूति' जिसके लिए नाटक कला नहीं, बल्कि उसके लिए व्यवसाय है, वह कपिंजल को यह चेतावनी देता है कि यदि वह विदूषक के पात्र का अभिनय नहीं करता है तो शासन द्वारा उसे इस बात के लिए दंड दे सकता है। अतः एक कलाकर, एक अभिनेता के रूप में जिसकी ख्याति नीलनगर की सीमाओं को पार कर चुकी है, उसकी कला का सत्ता के आगे मूल्य कुछ भी नहीं है। वह एक उपकरण एक साधन के समान है। कपिंजल को भूमिका चुनने का अधिकार नहीं होता है, क्योंकि व्यावसायिकता हर किसी को चुनने का अधिकार नहीं देती है। अतः कपिंजल भी अभिशप्त है, विदूषक का पात्र अभिनीत करने के लिए। डॉ. विजय पाल इस सन्दर्भ में कहते हैं, "वास्तव में यहाँ कला को एक उपकरण, साधन के रूप में देखा जाता है। वास्तव में यह एक आधुनिक दृष्टिकोण है, जिसमें प्रत्येक वस्तु को साधन या उपयोगिता के मानदंडो पर रखा जाता है।"[80]

इस प्रकार कालिदास और कपिंजल प्रतीक हैं आज के उस आधुनिक कलाकार और रचनाकार के जो अपनी अस्मिता निर्माण में आज संघर्षरत हैं। एक कलाकार एक साहित्यकार के रूप में अपनी पहचान बनने के लिए कितनी ही विपरीत परिस्थितियों से होकर गुजरता है। इसी प्रक्रिया में वह सत्ता

से भी कालिदास और कपिंजल के समान जुड़ते हैं। जहाँ एक सीमा तक उन्हें पद, पहचान और उपलब्धियाँ भी मिलती हैं। लेकिन वह कब सत्ता के हाथों की कठपुतली बन जाते हैं उन्हें बोध भी नहीं होता है। धीरे-धीरे वह सत्ता के लिए उपकरण और साधन मात्र बनकर रह जाते हैं, उनका अपना व्यक्तित्व समझौतावादी बनते-बनते द्वंद्वों में घिर कर खंडित हो जाता है। इस प्रकार कालिदास और कपिंजल का अपने-अपने नाटक में ऐतिहासिक पुरुष, एक कलाकार, एक साहित्यकार के रूप में चित्रण किया गया है। किन्तु दोनों ही पात्र प्रतीक हैं आज के आधुनिक मनुष्य के तथा एक कलाकार और रचनाकार के, जो द्वंद्वों में घिरा हुआ समझौतावादी हो चुका है।

सुरेन्द्र वर्मा का एक और नाटक है 'कैद-ए-हयात'। यह नाटक एक रचनाकार के रूप में ग़ालिब के जीवन-संघर्ष को चित्रित करता है। शायरी की दुनिया में ग़ालिब का अपना ही एक मुकाम रहा है। किन्तु एक रचनाकार के रूप में ग़ालिब का जीवन भी संघर्षों से भरा रहा है। सुरेन्द्र वर्मा ग़ालिब के जीवन के माध्यम से दरअसल रचनाकारों के सदियों के संघर्षों, कष्टों तथा नैतिक मूल्यों को ही प्रकट कर रहे हैं। डॉ. नीलम राठी इस सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय-तत्त्वों के सन्दर्भ में)' लिखती हैं, "'कैद-ए-हयात' में जिस ऐतिहासिक मिर्जा ग़ालिब को प्रस्तुत किया गया है वह महज ऐतिहासिक रुझान का प्रतिनिधित्व नहीं करता वरन् उसके माध्यम से समकालीन सृजनधर्मिता के संभावित अभावों, संकटों, संघर्षों और परंपरागत नैतिक मूल्यों को भी अभिव्यक्त करता है।"[81]

5.9 'आषाढ़ का एक दिन' और 'कैद-ए-हयात'

सुरेन्द्र वर्मा कृत नाटक 'कैद-ए-हयात' के ग़ालिब की तुलना मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के पात्र कालिदास के जीवन से की जा सकती है। दोनों ही ऐतिहासिक पुरुष के साथ-साथ एक साहित्यकार भी रहे हैं। दोनों ही नाटकों में रचनाकारों के संघर्षशील चरित्र उभरकर सामने आए

हैं। ग़ालिब की ज़िंदगी निजी, सामाजिक तथा सियासी, तीनों ही रूपों से समस्याओं से घिरी हुई थी। ठीक वैसे ही कालिदास की ज़िंदगी भी इन तीनों रूपों से, समस्याओं से घिरी हुई थी।

जैसे एक तरफ कालिदास अपनी निजी ज़िंदगी में एक कवि के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए अपनी काव्य-प्रेरणा स्वरूप प्रेमिका 'मल्लिका' और अपनी भूमि को छोड़कर उज्जयिनी राज्य का राजकवि बनने हेतु चला जाता है। कालिदास अपनी भूमि और प्रेमिका मल्लिका को छोड़कर नहीं जाना चाहता है किन्तु मल्लिका उससे तर्क करती है कि उसके काव्य, उसकी रचना को मुकम्मल पहचान उज्जयिनी के राजकवि बनने के बाद अधिक मिलेगी, "ये क्यों नहीं सोचते कि नयी भूमि तुम्हें यहाँ से अधिक सम्पन्न और उर्वरा मिलेगी। इस भूमि से तुम जो कुछ ग्रहण कर सकते थे, कर चुके हो। तुम्हें आज नयी भूमि की आवश्यकता है, जो तुम्हारे व्यक्तित्व को अधिक पूर्ण बना दे।"[82] मल्लिका और अपनी भूमि से उखड़कर कालिदास अपनी निजी ज़िंदगी में अंततः अपनी प्रेरणा स्वरूप अपनी प्रेयसी मल्लिका को खो ही देता है। नाटक के अंत में कालिदास जब अपने प्रांत लौटकर मल्लिका के पास आता है तब सब कुछ बदल चुका होता है। मल्लिका का विवाह विलोम से हो गया रहता है। एक कवि, एक रचनाकर के रूप में यश प्राप्त करने में मल्लिका को वह खो देता है। जिस निजी जीवन की शायद एक कवि के रूप में कालिदास ने कल्पना की थी, वह उसे नहीं मिल पाता है। अंत में उसकी निजी ज़िंदगी को दुखांत मोड़ देखकर मोहन राकेश ने नाटक का अंत कर दिया है। जैसे नाटककार मोहन राकेश ने कालिदास के माध्यम से एक रचनाकर के निजी जीवन की एक कड़वी सच्चाई भी दिखाई हो कि रचनाधर्मिता का पालन करने तथा अस्मिता निर्माण में एक साहित्यकार की अपनी निजी ज़िंदगी बहुत अधिक प्रभावित होती है।

ग़ालिब भी अपनी निजी ज़िंदगी में रचनाकार के रूप में अपनी अस्मिता-निर्माण में घर की आर्थिक स्थिति को ठीक नहीं कर पाता है। नाटक के आरंभ में ही उमराव जो ग़ालिब की पत्नी है, घर में ख़राब आर्थिक हालात का कारण ग़ालिब की शायरी को बताती है। मिर्जा ग़ालिब आर्थिक संकट को जानते हैं, लेकिन हर समय अपने इस रचनाकर्म में इतने व्यस्त रहते हैं कि वह अपने घर के इस

आर्थिक संकट को दूर नहीं कर पाते हैं। पांच साल की उम्र में पिता के देहांत के बाद ग़ालिब की परवरिश ननिहाल में हुई और महज तेरह साल की उम्र में शादी हो गई। जीवन यापन के लिए दिल्ली से लेकर कोलकाता और लखनऊ, बनारस कहाँ-कहाँ नहीं भटके। इसके अतिरिक्त उनके एक के बाद एक आठ बच्चों का देहांत होता चला गया। परिणामस्वरूप अंततः वह निःसंतान ही रह गए। ग़ालिब स्वयं अपने इस आर्थिक संकट को अपनी शायरी के माध्यम से प्रकट करते हैं,

"ऐसी चली सुखन के चमन में हवा-ए-कर्ज
ग़ालिब का नाम सफह-ए-अव्वल पे हुआ दर्ज
अब है नहीं तौफीक कि वो कर सके अदा
घर का घिराव करके महाजन ने दी सदा।"[83]

कहने का अर्थ यह है कि दोनों ही नाटकों के नाटककारों ने ऐतिहासिक पात्र-चरित्र रचनाकार ग़ालिब और कालिदास के माध्यम से आज के आधुनिक साहित्यकार के निजी जीवन पर भी रोशनी डाली है। कई आधुनिक साहित्यकारों की निजी ज़िंदगी कष्टों से भरी रही है। जैसे निराला, मुक्तिबोध और नागार्जुन आदि साहित्यकार हुए हैं, जिनकी निजी ज़िंदगी बहुत ही कष्टों और संघर्षों से गुजरी है। इन्होंने भी आर्थिक संकटों का सामना किया है। निराला ने तो अपनी बेटी सरोज तक को खो दिया जिसके बाद उसकी स्मृति में उन्होंने 'सरोज स्मृति' लिखा था। इनके अतिरिक्त भी कई ऐसे रचनाकार हैं जिनकी रचना प्रतिभा आर्थिक संकटों में ही दम तोड़ देती है। उनकी रचना और उनका व्यक्तित्व किसी गुमनामी के अँधेरे में ही गुम हो जाता है।

ग़ालिब का निजी जीवन जिस प्रकार कष्टों से घिरा हुआ था, उसी प्रकार उनका सामाजिक जीवन भी कमोबेश वैसा ही था। आर्थिक तंगी से वे परेशान थे, जिसके कारण उन्हें महाजनों से कर्ज लेना पड़ता था। किन्तु वह कर्ज चुका नहीं पाते थे। जिस कारण उनके खिलाफ वारंट निकल जाता है और जिसके कारण ग़ालिब को छिप कर घर में ही रहना पड़ता है। घर में पत्नी उमराव से अक्सर

सुनने को तो मिलता ही था, घर के बाहर समाज भी इनके ऊपर व्यंग्य करता था। कहते हैं कोई ऐसी गली, मोहल्ला नहीं था, जहाँ ग़ालिब को लोगों के व्यंग्य न सुनने को मिलते थे। ग़ालिब की इन सामाजिक परिस्थितियों का पता आपा और उमराव के बीच होने वाली बातचीत से पता चलता है, "उमराव : बहुत दुश्वार होता है रहना और समझना, अगर शौहर- शौहर बाद में हो पहले शायर हो।

आपा : और मेरा कयास है कि मिर्जा नौशा को समझने के वास्ते सबसे सहज नुक्ता यही है।

उमराव : (व्यंग्य से) जरूर

आपा : (समझाते हुए) सुखनवर है, इसीलिए बहुत हस्सास है और पास जो ब्याज है न, वह बरहमेश याद दिलाती रहती है कि...

उमराव : उस ब्याज को कोई पूछता भी है ? जिस शायरी पर इतना नाजों-गुरूर पाले हैं, जरा जानूं कि किस अहले-नजर ने उनकी तम्बीह नहीं की ? एक दिन ऐसा नहीं गुजरता, जब इनके अशआर को लेकर कोई लतीफा न आता हो सुनने में ! मैं तो जिल्लत के मारे जमीन में गड़ी जाती हूँ।" [84]

ग़ालिब के सामाजिक जीवन के समान ही कालिदास का सामाजिक जीवन कई समस्याओं से घिरा हुआ था। जिस समाज के बीच एक रचनाकार एक साहित्यकार अपनी रचना के कारण, अपनी एक विशेष पहचान बना पाता है, वही साहित्यकार अपने जीवन में अपने समाज से बहुत दुख भी उठाता है। बहुत कम ही साहित्यकार अपने जीवन काल में जीवित रहते हुए अपने समाज से पद, प्रतिष्ठा और वैभव प्राप्त कर सके हैं। कालिदास मल्लिका को अपने काव्य की न केवल प्रेरणा स्रोत मानता है, बल्कि हृदय से उससे उतना प्रेम भी करता है। किन्तु कालिदास और मल्लिका के प्रेम को गाँव के लोग संदेह और वितृष्णा से देखते हैं। नाटक के प्रथम अंक में ही मल्लिका और अम्बिका के बीच के संवाद से इस बात की जानकारी मिल जाती है, "मल्लिका : सच तो यह है माँ, कि ग्राम के अन्य व्यक्तियों की तरह तुम भी उन्हें संदेह और वितृष्णा की दृष्टि से देखती हो।"[85] एक साहित्यकार अपने जीवन में सामाजिक आलोचना की बहुत अधिक परवाह नहीं करता है। वह निरंतर अपने

रचना-संसार में खोया रहता है। एक साहित्यकार के लिए प्रेम, प्रकृति, उसकी भूमि का क्या अर्थ है? आम लोग इस बात का अनुभव नहीं करते हैं और वितृष्णा स्वरूप व्यंग्य और आलोचना करते हैं। कालिदास भी ऐसी ही सामाजिक परिस्थितियों से गुजरता रहता है। नाटक में कालिदास के ग्राम में विलोम नाम का पात्र भी है जो मल्लिका को पसंद करता है, यह जानते हुए भी कि कालिदास और मल्लिका एक-दूसरे से अगाध प्रेम करते हैं। इसके बावजूद कालिदास के प्रति नकारात्मक भावना रखता है और अक्सर मल्लिका की माँ अम्बिका के घर जाकर कालिदास के प्रति उसके मन में अविश्वास पैदा करता रहता है। आधुनिक जीवन में आज भी विलोम जैसे चरित्र हैं, जो किसी के भी जीवन में अनाधिकार प्रवेश कर जाते हैं। आधुनिक समय में भी एक रचनाकर के आस-पास समाज में बहुत से लोग विलोम के सामन होते हैं, जो अक्सर अवसर का लाभ उठाकर उसे नुकसान पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं, "कालिदास, मल्लिका, अम्बिका जब-जब भावना और द्वंद्व की चरम सीमा पर होते, तब वह उन्हें छेड़ता है, अपनी उपस्थिति का पूरा ऐहसास कराता है और अवसर का पूरा फायदा उठाता है।"[86]

इस प्रकार नाटक में ग़ालिब और कालिदास दोनों को ही अपने समकालीन समय में अपने समाज के व्यंग्य और आलोचना का सामना करना पड़ा है। इसके बावजूद दोंनो ही साहित्यकार तमाम आलोचनाओं और संघर्षों के बाद भी एक श्रेष्ठ रचनाकार के रूप में अपनी पहचान बनाने में सफल रहे हैं।

ग़ालिब निजी और सामाजिक उलझनों के साथ-साथ राजनैतिक उलझनों से भी घिरा हुआ था। ग़ालिब के पारिवारिक मामलों को जानने पर पता चलता है कि ग़ालिब के चाचा की जागीर फिरोजपुर झिर्का के नवाब अहमदबख्श खां को दे दी गई थी। और जिसके बदले में ग़ालिब के परिवार को दस हजार हर वर्ष देना तय हुआ था। इस हिसाब से ग़ालिब को 750 रू. उसके हिस्से के मिलते थे। लेकिन अहमदबख्श खां ने ग़ालिब के साथ राजनैतिक खेल खेला और लार्ड लेक से मिलकर दस हजार की तय राशि कम करवाकर पांच हजार करवा दी। ग़ालिब के साथ यह सियासी खेल यहीं

नहीं रुका बल्कि ख्वाजाहाजी नाम के एक अन्य शख्स को भी इसका हिस्सेदार बना दिया गया। ग़ालिब को इस सियासी राजनीति से लड़ने के लिए न जाने कितनी बार दिल्ली, कोलकाता की अदालतों के चक्कर काटने पड़े थे । यहाँ तक कि अपने ही हक़ के लिए न्याय के लिए रिश्वत भी देनी पड़ी थी। इस बात का बोध नाटक में शीरी और ग़ालिब के बीच होने वालि बातचीत से पता चलता है, "शीरी : क्या आपको भी कुछ रिश्वत देनी पड़ी थी ?

मिर्ज़ा : राज को राज ही रहने दीजे, वर्ना हर्फे इंसाफ से लोगों का यकीं उठ जाएगा।"[87]

'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास भी राजनैतिक व्यवस्था के हाथों लाचार दिखता है। कई बार एक रचनाकार के आगे कोई मार्ग नहीं बचता, सिवाय इसके कि वह व्यवस्था के अनुसार चले। कालिदास भी एक रचनाकार के रूप में अपनी अस्मिता का निर्माण करना चाहता है, किन्तु किसी राजनैतिक दवाब में आकर नहीं। एक रचनाकार के लिए सबसे प्रिय उसकी लेखनीय स्वतंत्रता ही है। मोहन राकेश स्वयं अपने एक भाषण में कहते हैं कि समझौता किसी भी रचनाकार के व्यक्तित्व को अनिवार्य रूप से खंडित कर देता है। ऐसे में आवश्यक है कि उसकी स्वतंत्रता बनी रहे, लेकिन कई बार आर्थिक हालत एक रचनाकार को समझौते के लिए मजबूर कर देते हैं। इस सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, "कालिदास के सामने भी राज्य द्वारा दिये गए सम्मान और राज्याश्रय स्वीकार करने का, उससे अधिक उससे उत्पन्न विरोधी स्थितियों का प्रश्न है; यह नहीं कि उसे राजकीय सम्मान का मोह नहीं है, बल्कि प्रश्न उसी स्वतंत्रता का, साहित्यकार के व्यक्तित्व और अधिकार का है- 'मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ'- यह पंक्ति लेखक के रचना-दायित्व और उसके स्वाभिमान और उसकी स्वतंत्रता की गहरी इच्छा को ही अभिव्यक्त करती है।"[88] तभी मामा मातुल के कहने पर और राजपुरुष के प्रस्ताव पर प्रारंभ में वह राजकवि बनना स्वीकार नहीं करता है। किन्तु बाद में मल्लिका के आग्रह पर वह राज कवि का पद स्वीकार कर लेते हैं। इसके पश्चात् कालिदास एक कवि के रूप में अपनी पहचान तो बना लेता है, लेकिन इसके बाद कभी भी उस राज्याधिकार को प्राप्त कर स्वाभाविक नहीं रह पाता। द्वंद्वों में घिरा हुआ अंततः वह जब

कश्मीर का शासन छोड़कर वापस आता है तो समय काफी आगे निकल चुका होता है। मल्लिका न केवल विलोम से विवाह कर चुकी होती है, बल्कि उसकी संतान की माँ भी बन चुकी होती है। इस प्रकार कालिदास की ज़िंदगी को भी राजनैतिक व्यवस्था ऐसे मोड़ पर लाकर छोड़ देती है, जहाँ उसका अपना व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। द्वंद्वों में घिरा हुआ उसका जीवन नीरस सा हो जाता है।

इस प्रकार 'कैद-ए-हयात' का ग़ालिब और 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास दोनों ही प्रतीक हैं उन साहित्यिकारों के जो अपने समकालीन समय में हमेशा से ही निजी, समाजी और सियासी उलझनों, आलोचनाओं और राजनैतिक व्यवस्थाओं के हाथों की कठपुतली बन गए हैं। ये भी अपने रचनाधर्मिता में तो संलग्न रहें, जिससे उनकी ख्याति तो दुनियाभर में हो गई, किन्तु उनकी अपनी निजी ज़िंदगी खंडित हो जाती है। वह एक रचनाकार के रूप में सफल तो हो जाते हैं, किन्तु उनका अपना निजी जीवन कष्टों से भरा होता है। जैसे उदाहरण स्वरूप निराला, मुक्तिबोध या नागार्जुन का जीवन हम देख सकते हैं।

इस प्रकार मोहन राकेश के नाटक की तुलना सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों से करने पर एक निष्कर्ष बिंदु पर पहुँचा जा सकता है कि जिस मध्यवर्गीय परिवार के त्रासदभरे जीवन की कथा को कहने की परंपरा मोहन राकेश ने की थी, उस कथा-परंपरा को ही सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में भिन्न कथानक और भिन्न परिस्थितियों के माध्यम से, किन्तु उसी समान भाव से नाटक में प्रस्तुत किया है। आधुनिक जीवन की विसंगतियों और टूटते-बिखरते परंपरागत जीवन मूल्यों को सुरेन्द्र वर्मा ने और भी विस्तार दिया है। उन्होंने मध्यवर्गीय के साथ-साथ उच्च-मध्यवर्गीय परिवार के विघटन को भी अपनी नाट्य-कथा में स्थान दिया है। मोहन राकेश के पात्रों चरित्रों में परंपरा के कुछ अंश जीवित देखे जा सकते हैं। तभी कमोबेश पारिवारिक सदस्यों के बीच एक-दूसरे के प्रति लगाव या सहानुभूति देखी जा सकती है। वहीं सुरेन्द्र वर्मा के पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों को छोड़ दें तो उनके आधुनिक पात्र-चरित्रों वाले नाटकों में तो परंपरा से चले आ रहे संबंधों का मूल्य ही नष्ट होता दिखाई देता है। तभी 'द्रौपदी' में 'सुरेखा' और 'मनमोहन', 'एक दूनी एक' में 'आदमी' और 'औरत', 'शकुन्तला

की अंगूठी' में 'कुमार' और 'कनक' जो उच्च-मध्यवर्गीय परिवार से संबंध रखते हैं, उनके बीच के संबंधों का मूल्य नष्ट होता जाता है कि सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के पात्र जिस पारिवारिक विघटन से वे गुजर रहे हैं, वह आज के उत्तर-आधुनिक हालात हैं। जहाँ अधूरे रिश्ते पहले से और भी ज्यादा बिखरते जा रहे हैं। वे एक-दूसरे से अलग होते जा रहे हैं। सारी विकट परिस्थितियाँ और अधिक गहरा गई हैं। मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में जो मुख्य केंद्रीय विषय है, वह है एक घर की खोज। 'आधे-अधूरे' में घर की खोज में ही सावित्री और महेन्द्रनाथ अपना घर बसाते हैं। ठीक उसी प्रकार एक घर के ही स्वप्न को लेकर 'द्रौपदी' में सुरेखा और मनमोहन अपना घर बसाते हैं। किन्तु वक्त के साथ न सावित्री-महेन्द्रनाथ का घर, घर के मूल अर्थ को चरितार्थ कर पाता हैऔर न सुरेखा-मनमोहन का घर ही। घर-परिवार जिस नींव पर टिका होता है, जैसे- एक-दूसरे से प्रेम, विश्वास, लगाव, स्नेह, आदि वह दोनों ही घर से लगभग नदारत ही रहते हैं। यह मूल समस्या दोनों ही नाटककारों के नाटकों में मौजूद है। राकेश के नाटकों में इस आधुनिक विघटन का आरंभिक चरण दिखता है। इसीलिए इन पात्र-चरित्रों में द्वंद्व, अनास्था, अधूरापन, नफरत आदि दिखती है, किन्तु इन पात्रों का चरित्र पूर्णतः नष्ट नहीं होता है। तभी द्वंद्व है, एक लगाव बचा हुआ है। किन्तु वहीं सुरेन्द्र वर्मा के आधुनिक कथा-पात्रों पर आधारित नाटकों में पात्रों का चरित्र पूर्णतः नष्ट दिखता है, जहाँ प्रेम ने अपना अर्थ खो दिया है और वह काम केन्द्रित हो चुका है। भोगवादी जीवन-दृष्टि ने लगभग सभी को स्वार्थी बना दिया है। हर एक रिश्ते को फायदे और नुकसान की दृष्टि से देखा गया है। अतः सुरेन्द्र वर्मा के नाट्य-पात्रों की संवेदना समाप्त को चुकी है वहीं राकेश के नाट्य पात्रों के अन्दर परंपरा का थोड़ा-सा अंश शेष दिखता है जबकि सुरेन्द्र वर्मा के पात्र पूर्णतः संवेदनहीन यांत्रिक बन चुके दिखाई देते हैं।

सन्दर्भ-

1. पाण्डेय, अम्बादत्त; आधुनिकता और आलोचना; प्रेम प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1985; पृ 18.
2. गौतम, रमेश; मिथक और स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक; नचिकेता प्रकाशन,विजय नगर, दिल्ली; संस्करण, प्रथम; पृ 113.
3. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 190 .
4. गौतम, रमेश; रंगानुभव के बहुरंग; स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2006; पृ 187.
5. अग्रवाल, प्रतिभा; भारतीय साहित्य के निर्माता मोहन राकेश; साहित्य आकादमी, फिरोजशाह मार्ग; नई दिल्ली; संस्करण, 1987; पृ 62 .
6. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोक भारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2002; पृ 134.
7. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों मर आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 34 .
8. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 98, 99, 100.
9. वर्मा, सुरेन्द्र; आठवां सर्ग; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 56, 58 .
10. वही; पृ 72 .
11. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 24 .
12. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोक भारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 140 .
13. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 73 .
14. वर्मा, सुरेन्द्र; आठवां सर्ग; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 55 .

15. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 28 .
16. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 34 .
17. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2016; पृ 54, 55 .
18. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 34, 35.
19. वर्मा, सुरेन्द्र; आठवां सर्ग; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 33 .
20. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट ,दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 144, 145 .
21. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 71 .
22. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 146 .
23. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 36 .
24. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन: आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 147, 148 .
25. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 220 .
26. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2008; पृ 65 .
27. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोक भारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2002; पृ 206, 207 .
28. वही; पृ 207 .
29. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधा कृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 92 .

30. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 43 .
31. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 24 .
32. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 153 .
33. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 26 .
34. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 199 .
35. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 170 .
36. वही; पृ 109,110 .
37. वही; पृ 110 .
38. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, जगतपुरी दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 12 .
39. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 92, 93 .
40. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 15 .
41. वही; पृ 20 .
42. वही; पृ 20 .
43. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 154 .
44. वही; पृ 155 .
45. वही; पृ 155, 156 .

46. गौतम, रमेश; हिंदी के प्रतीक नाटक; नचिकेता प्रकाशन, पहाडगंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1979; पृ 244.
47. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 67 .
48. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली;संस्करण, 2005; पृ 76 .
49. वही; पृ 82, 83 .
50. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 157 .
51. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ109 .
52. वही; पृ 111 .
53. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 69, 70 .
54. वही; पृ 170,172 .
55. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 83, 84 .
56. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 200 .
57. वही; पृ 201 .
58. वही; पृ 201 .
59. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ. 89 .
60. वही; पृ. 89 .
61. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 202 .
62. वही; पृ 202 .

63. गौतम, रमेश; हिंदी के प्रतीक नाटक; नचिकेता प्रकाशन, पहाडगंज, नई दिल्ली, संस्करण, 1979; पृ 290.

64. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 201

65. वही; पृ 204 .

66. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 46 .

67. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, जगतपुरी, दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 29 .

68. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 47 .

69. वही; पृ 47, 48 .

70. जैन, नेमिचंद्र; मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक; राजपाल एंड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 438 .

71. वही; पृ 415, 416 .

72. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली;संस्करण, 2005; पृ 108 .

73. वही; पृ 417 .

74. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 69 .

75. जैन, नेमिचंद्र; मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक; राजपाल एंड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 432 .

76. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 25 .

77. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 47 .

78. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 26 .

79. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 48 .

80. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 28 .

81. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 189 .

82. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 47.

83. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन, प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 190 .

84. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 58 .

85. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 15.

86. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोक भारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2002; पृ 140 .

87. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 59.

88. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 48 .